अल-रिसाला

मार्च-अप्रैल 2025

अल-रिसाला
मार्च-अप्रैल 2025

CPS International
centre for peace and spirituality

माहनामा ‘अल-रिसाला’ को हिंदी स्क्रिप्ट में लाने की यह हमारी एक कोशिश है। मुश्किल उर्दू अल्फ़ाज़ को भी आसान कर दिया गया है, ताकि ज़्यादा-से-ज़्यादा लोग इसे पढ़कर फ़ायदा उठाएँ और अपनी ज़िंदगी, अपनी शख़्सियत में मुस्बत (positive) बदलाव ला सकें।

नीचे दी गई हमारी वेबसाइट और सोशल मीडिया पेजिस से मज़ीद फ़ायदा उठाएँ।

संपादकीय टीम
ख़ुर्रम इस्लाम क़ुरैशी
आरिफ़ हुसैन आलम, सैफ़ अनवर
फ़रहाद अहमद ,इरफ़ान रशीदी

Centre for Peace and Spirituality International
1, Nizamuddin West Market,
New Delhi-110013
info@cpsglobal.org
www.cpsglobal.org

cpsglobal.org
twitter.com/WahiduddinKhan
facebook.com/maulanawkhan
youtube.com/CPSInternational
+91-99999 44118
t.me/maulanawahiduddinkhan
linkedin.com/in/maulanawahiduddinkhan
instagram.com/maulanawahiduddinkhan

To order books of
Maulana Wahiduddin Khan, please contact
Goodword Books
Tel. 011-41827083,
Mobile: +91-8588822672
E-mail: sales@goodwordbooks.com

Goodword Bank Details
Goodword Books
State Bank of India
A/c No. 30286472791
IFSC Code: SBIN0009109
Nizamuddin West Market Branch

विषय-सूची

इख़्तिलाफ़	4
इख़्तिलाफ़ का मामला	5
इख़्तिलाफ़-ए-राय	6
इख़्तिलाफ़ एक मुसबत ज़ाहिरा	8
तरक़्क़ी का राज़	9
फ़िक्री तअद्दुद, फ़िक्री हुर्रियत	11
मुख़ालिफ़त नहीं	12
इख़्तिलाफ़ और एकता	14
इख़्तिलाफ़ को हल करने की तदबीर	15
इख़्तिलाफ़ और रवादारी	22
रवादारी का उसूल	24
आर्ट ऑफ डिफरेंस मैनेजमेंट	29
आर्ट ऑफ लाइफ़	30
शिकायत ख़त्म करने का तरीक़ा	32
तख़्लीक़ में विभिन्नता	33
पुख़्तगी क्या है?	34
इख़्तिलाफ़ के वक़्त	36
कामयाबी का राज़	37
बुलंद फ़िक्री	38

उम्मत में इख़्तिलाफ़ का मसला	40
तनक़ीद-ओ-इख़्तिलाफ़	41
इख़्तिलाफ़ एक फ़ितरी मामला	43
इख़्तिलाफ़ का मसला	44
इख़्तिलाफ़ एक सेहतमंद ज़ाहिरा	46
इख़्तिलाफ़ एक बरकत	48
फ़िक़्ही मसाइल में इख़्तिलाफ़	49
इख़्तिलाफ़ के बावजूद	54
इख़्तिलाफ़ के बावजूद एतिराफ़	56
बड़ा फ़ायदा	57
तनक़ीद को सुनकर	58
ज़ेहनी तरक्की का ज़रिया	60
इख़्तिलाफ़, नफ़रत	61
इख़्तिलाफ़ के साथ एतिराफ़	62
इख़्तिलाफ़ को भुला दिया	64
इख़्तिलाफ़ एक आज़माइश	65

इख़्तिलाफ़

क़ुरआन की एक आयत इन अल्फ़ाज़ में आई है:

إِنَّ سَعْيَكُمْ لَشَتَّى

“तुम्हारी कोशिशें अलग-अलग हैं।” (92:4)

काइनात पर ग़ौर करने से मालूम होता है कि काइनात के मुख़्तलिफ़ अज्ज़ा में बहुत ज़्यादा विभिन्नता (diversity) पाई जाती है। इसके बावजूद, काइनात में कामिल हम-आहंगी (harmony) मौजूद है। इस एतिबार से, काइनात एक मॉडल है कि किस तरह यह मुमकिन है कि कामिल इख़्तिलाफ़ के बावजूद आपस में कामिल एकता पाई जाए।

इंसानों के दरमियान भी इसी तरह इख़्तिलाफ़ या विभिन्नता मौजूद है। मगर यहाँ अमलन बरअक्स सूरत-ए-हाल पाई जाती है। इंसानों के दरमियान इख़्तिलाफ़ की बुनियाद पर टकराव है। इसके नतीजे में, इंसानी समाज में नफ़रत और तशद्दुद, यहाँ तक कि जंग की सूरत-ए-हाल पैदा हो जाती है। काइनात के दो हिस्सों में यह फ़र्क क्यों? ग़ैर-इंसानी हिस्से — यानी काइनात — में इख़्तिलाफ़ के बावजूद एकता पाई जाती है, जबकि इंसानी दुनिया में इख़्तिलाफ़ लोगों के दरमियान टकराव का सबब बन जाता है। इसका सबब यह है कि इंसान अपनी ख़्वाहिश पर चलता है; काइनात के मॉडल को वह नहीं अपनाता।

काइनात का मॉडल ख़ालिक़ के तख़्लीक़ी मंसूबे पर मबनी है। ख़ालिक़ की मंशा के मुताबिक़, इस भौतिक दुनिया में अलग-अलग हिस्से जब मिलकर और तालमेल से काम करते हैं, तो बेहतर नतीजे पैदा होते हैं।

यह मॉडल गोया एक मुज़ारहा है, जो बताता है कि इंसान भी इसी

यूनिवर्सल मॉडल को इख़्तियार करे। फ़ितरत के मॉडल को इख़्तियार करने ही में इंसान की आला तरक़्क़ी का राज़ छिपा हुआ है।

ख़ालिक़ ने इंसान को विभिन्नता के उसूल पर पैदा किया है। हर औरत और हर मर्द के अंदर अलग-अलग सिफ़ात पाई जाती हैं। लोगों को चाहिए कि वे इस विभिन्नता से टकराने के बजाय अवेल करने का आर्ट सीखें। इस तरह, इंसान के तमाम मामलात इसी तरह दुरुस्त तौर पर क़ाइम हो जाएँगे, जैसा कि काइनात के बाक़ी हिस्सों के मामलात क़ाइम हैं। (सूरह अल-लैल, आयत 4 का सबक़)

इख़्तिलाफ़ का मामला

क़ुरआन में एक हुक्म इन अल्फ़ाज़ में बयान किया गया है:

يَا أَيُّهَا الَّذِينَ آمَنُوا إِنْ جَاءَكُمْ فَاسِقٌ بِنَبَإٍ فَتَبَيَّنُوا أَنْ
تُصِيبُوا قَوْمًا بِجَهَالَةٍ فَتُصْبِحُوا عَلَى مَا فَعَلْتُمْ نَادِمِينَ

"ऐ ईमान वालों, अगर कोई फ़ासिक़ तुम्हारे पास ख़बर लाए, तो तुम अच्छी तरह तहक़ीक़ कर लिया करो। कहीं ऐसा न हो कि तुम किसी गिरोह को नादानी से कोई नुक़सान पहुँचा दो, फिर तुमको अपने किए पर पछताना पड़े।" (49:6)

क़ुरआन की इस आयत में इज्तिमाई ज़िंदगी का एक उसूल बताया गया है। वह यह है कि जब कोई शख़्स कोई इख़्तिलाफ़ी बात कहे, तो सुनने वाले को ऐसा नहीं करना चाहिए कि वह इसको बद-नियती का मामला समझ ले, और कहने वाले को बुरा आदमी समझने लगे। इसके बजाए, सही तरीक़ा यह है कि इस तरह के मामले को तहक़ीक़ का मामला समझा जाए, न कि किसी शख़्स के बारे में

राय क़ायम करने का मामला। किसी के बारे में राय क़ायम करना सिर्फ़ इतमाम-ए-हुज्जत (establishing truth beyond doubt) के बाद जायज़ है; इससे पहले नहीं।

असल यह है कि शिकायत या इख़्तिलाफ़ का सबब अक्सर हालात में बे-ख़बरी और ग़लतफ़हमी होता है। पेश आने वाले मामले के बारे में सही मालूमात न होने की वजह से लोग मुख़ालिफ़ाना राय क़ायम कर लेते हैं। किसी के बारे में इस तरह राय क़ायम करना दुरुस्त नहीं है। इस्लामी तालीमात के मुताबिक़, इतमाम-ए-हुज्जत से पहले तहक़ीक़ है, और इतमाम-ए-हुज्जत के बाद राय क़ायम करना।

इज्तिमाई ज़िंदगी में अक्सर ऐसा होता है कि लोगों को एक-दूसरे के ख़िलाफ़ शिकायत हो जाती है। यह शिकायत बढ़ते-बढ़ते नफ़रत बन जाती है, और नफ़रत के बाद मज़ीद बुराइयाँ पैदा होती हैं। मसलन, एक-दूसरे को बदनाम करना, एक-दूसरे के ख़िलाफ़ इल्ज़ाम तराशी करना, एक-दूसरे को अपना दुश्मन समझ लेना। इस क़िस्म की इज्तिमाई ख़राबियों का सबब हमेशा यही होता है कि लोग तहक़ीक़ के बग़ैर राय क़ायम कर लेते हैं, वह जो कुछ सुनते हैं, उसे दुरुस्त समझ लेते हैं। इस तरीक़े का नतीजा बेहद संगीन है — दुनिया में शर्मिंदगी और आख़िरत में पकड़।

इख़्तिलाफ़-ए-राय

एक बार मेरी मुलाक़ात एक मग़रिबी (पश्चिमी) स्कॉलर से हुई। मैंने पूछा, “अहल-ए-मग़रिब की तरक़्क़ी का राज़ क्या है?” उन्होंने जवाब दिया, “इख़्तिलाफ़-ए-राय को इंसान का मुक़द्दस हक़ क़रार देना।” यह बिला-शुब्हा एक दुरुस्त बात है। लेकिन यह मग़रिबी

फ़िक्र की बात नहीं है; यह फ़ितरत का एक क़ानून है। इस क़ानून को एक हदीस में इन अल्फ़ाज़ में बयान किया गया है:

اخْتِلَافُ أُمَّتِي رَحْمَةٌ

"मेरी उम्मत का इख़्तिलाफ़ रहमत है।"

(क़न्ज़ुल-उम्माल, ह.न. 28686)

इख़्तिलाफ़-ए-राय का इज़्हार हमेशा तनक़ीद की सूरत में होता है। मगर तनक़ीद, ख़्वाह वह किसी शख़्स के हवाले से की गई हो, अपनी हक़ीक़त के एतिबार से मुताले की एक सूरत होती है। तनक़ीद का असल मक़सद किसी मौज़ू पर खुले तबादला-ए-ख़याल का आग़ाज़ करना होता है। तनक़ीद का मक़सद यह है कि मुख़्तलिफ़ ज़हन इमानदारी से अपने नतीजा-ए-तहक़ीक़ को बताएँ, और फिर दूसरे लोग इमानदारी के साथ उस पर अपने ख़्यालात का इज़्हार करें। इस तरह का आज़ादाना तबादला-ए-ख़्याल ज़ेहनी तरक्की (intellectual development) का लाज़िमी तक़ाज़ा है।

इल्म अपनी नौइयत के एतिबार से एक लामहदूद मौज़ू है। यह बात मज़हबी मौज़ू पर भी उसी तरह सादिक़ आती है, जिस तरह सेक्युलर मौज़ू पर। इख़्तिलाफ़-ए-राय बिला-शुब्हा एक रहमत है। इख़्तिलाफ़-ए-राय हर हाल में मुफ़ीद है। इस मामले में अगर कोई शर्त है, तो वह सिर्फ़ एक है। वह यह कि इख़्तिलाफ़ करने वाला मुसल्लम दलील की बुनियाद पर इख़्तिलाफ़ करे; वह इल्ज़ाम तराशी का तरीक़ा इख़्तियार न करे।

इख़्तिलाफ़-ए-राय के फ़ायदे बेशुमार हैं। इससे ज़ेरे-बहस मसले के नए पहलू सामने आते हैं। इससे तख़्लीक़ी फ़िक्र (creative thinking) में इज़ाफ़ा होता है। इसके ज़रिए लोगों को मौक़ा मिलता है कि वे दूसरे की फ़िक्र से फ़ायदा उठाएँ। इससे मसला-ज़ेरे-बहस के ऐसे गोशे सामने आते हैं जो पहले से ज़ाहिर नहीं होते, वग़ैरह।

इख़्तिलाफ़ एक मुसबत ज़ाहिरा

एक क़ौल बतौर हदीस-ए-रसूल मुख़्तलिफ़ किताबों में नक़्ल किया गया है। इसके अल्फ़ाज़ यह हैं:

اخْتِلَافُ أُمَّتِي رَحْمَةٌ

"मेरी उम्मत का इख़्तिलाफ़ एक रहमत है।"

(कन्ज़ुल-उम्माल, ह.न. 28686)

मुहद्दिसीन आम तौर पर इस क़ौल को बे-असल मानते हैं (अल-मक़ासिद अल-हसनह, ह.न. 39)। मुहद्दिसाना उसूल के मुताबिक़, यह क़ौल एक बे-असल क़ौल हो सकता है। लेकिन क़ानून-ए-फ़ितरत के एतिबार से बिला-शुब्हा यह एक दुरुस्त क़ौल है।

इख़्तिलाफ़ फ़ितरत के क़ानून के मुताबिक़ एक मुसबत ज़ाहिरा (positive phenomenon) है। वह कोई ग़ैर-मतलूब चीज़ नहीं है। इख़्तिलाफ़ अगर संजीदा इख़्तिलाफ़ हो, तो वह डिस्कशन का दरवाज़ा खोलता है। लोग इस पर संजीदा इज़हार-ए-राय करते हैं, जिससे ज़ेरे-बहस मसले के नए-नए पहलू सामने आते हैं। बीसवीं सदी के मशहूर अमेरिकन राइटर और पत्रकार वाल्टर लिपमैन (1889-1974) ने निहायत दुरुस्त तौर पर कहा है कि जहाँ तमाम लोग यकसाँ तौर पर सोचें, वहाँ कोई भी ज़्यादा नहीं सोचता:

"When all think alike, no one thinks very much."

जब दो पत्थर आपस में टकराएँ, तो इससे एक तीसरी चीज़ इमर्ज करती है, और वह चिंगारी है। यही हाल इंसान का है। जब दो दिमाग़ किसी इख़्तिलाफ़ी मौज़ू पर आपस में गुफ़्तगू करें, तो इससे एक तीसरा ख़्याल वुजूद में आता है, जो दोनों के ज़ेहनी तरक्की (intellectual development) का ज़रिया बनता है।

हक़ीक़त यह है कि इख़्तिलाफ़ एक रहमत है। इख़्तिलाफ़ को अगर संजीदगी के साथ लिया जाए, तो इससे ग़ौर-ओ-फ़िक्र का नया दरवाज़ा खुलता है, मामले के नए पहलू सामने आते हैं। हालाँकि, इसकी यह शर्त है कि गुफ़्तगू को हार-जीत के मानी में न लिया जाए, बल्कि मौज़ू को तहकीक़ के मानी में लिया जाए। बहस के दोनों फ़रीक़ अपनी ज़ात को अलग करके ज़ेरे-बहस मसले पर तबादला-ए-ख़्याल करें।

तरक़्क़ी का राज़

मग़रिब के सफ़र में मेरी मुलाक़ात एक बड़े मग़रिबी स्कॉलर से हुई। मैंने उनसे पूछा कि मग़रिब (West) की तरक़्क़ी का राज़ क्या है? उन्होंने जवाब दिया — "इख़्तिलाफ़-ए-राय को इंसान का अटल हक़ समझना: 'To accept dissent as an absolute human right.'"

मग़रिबी स्कॉलर के इस जवाब को सुनने के बाद, मैंने इस मौज़ू का तफ़्सीली मुताला किया। मुझे मालूम हुआ कि इस मौज़ू पर कसरत से किताबें लिखी गई हैं, मसलन:

Dissent: The History of an American Idea by Ralph Young, 2015, NYU Press

On Liberty by John Stuart Mill, 1859

The Constitution of Liberty by F. A. Hayek, 1960

इस मौज़ू पर अपने मुताले के नतीजे में, मैं इस राय की सदाक़त पर मुतमइन हो गया। मैं समझता हूँ कि मग़रिबी तहज़ीब से पहले, इंसानी तारीख़ में इख़्तिलाफ़-ए-राय को इंसानी हक़ — human rights — का दर्जा हासिल न था। यह सिर्फ़ मग़रिबी तहज़ीब के बाद हुआ है कि इख़्तिलाफ़-ए-राय को पूरी दुनिया में एक आलमी उसूल की हैसियत हासिल हो गई है।

इख़्तिलाफ़-ए-राय को डिसेंट का नाम देना मग़रिबी तहज़ीब का ज़ाहिरा है। मग़रिबी तहज़ीब से पहले यह लफ़्ज़ मौजूद न था। डिसेंट एक न्यूट्रल लफ़्ज़ है, और मैं समझता हूँ कि मुसबत इख़्तिलाफ़ (positive disagreement) के लिए यह एक सही तरीन लफ़्ज़ है। मुसबत इख़्तिलाफ़ सिर्फ़ इख़्तिलाफ़ होता है; वह न मुवाफ़िक़ होता है, न मुख़ालिफ़। मैं समझता हूँ कि मुसबत इख़्तिलाफ़ इज्तिमाई तरक़्क़ी के लिए शर्त-ए-लाज़िम है।

इख़्तिलाफ़ अगर सिर्फ़ इख़्तिलाफ़ हो, तो वह निहायत आसानी से मुख़ालिफ़त की शक्ल इख़्तियार कर लेता है, और मुख़ालिफ़त सिर्फ़ एक मंफ़ी सरगर्मी है। मुख़ालिफ़त को मुसबत सरगर्मी बनाने का बेहतरीन तरीक़ा यह है कि उसको मुसबत मानी दे दिया जाए — यानी इख़्तिलाफ़ को डिसेंट (dissent) का मानी क़रार देना। मुसबत इख़्तिलाफ़ दोनों पार्टियों के लिए ज़ेहनी तरक्की का ज़रिया है, जबकि मंफ़ी इख़्तिलाफ़ का दोनों में से किसी के लिए कोई फ़ायदा नहीं है।

मैं ज़ाती तौर पर इख़्तिलाफ़-ए-राय को यही दर्जा देता हूँ। मैंने अपने ज़ाती तजुर्बे से यह समझा है कि इख़्तिलाफ़-ए-राय को न मानना ख़ुद अपने साथ दुश्मनी करना है। इसलिए कि इख़्तिलाफ़-ए-राय के ज़रिए ज़ेरे-बहस मसले के मुख़्तलिफ़ पहलू खुलते हैं। इसके मुख़्तलिफ़ गोशे सामने आते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि इख़्तिलाफ़-ए-राय किसी इंसान के लिए ज़ेहनी तरक्की (intellectual development) का ज़रिया बन जाता है। मैं अपने ज़ाती तजुर्बे की बुनियाद पर कह सकता हूँ कि जो आदमी इख़्तिलाफ़-ए-राय को बर्दाश्त न करे, वह यक़ीनन एक बहुत बड़ी नेमत से महरूम हो गया — और वह नेमत है ज़ेहनी तरक्की।

किसी ने दुरुस्त तौर पर कहा है:

مَنْ هُوَ نَاصِحُكَ، خَيْرٌ لَكَ مِمَّنْ هُوَ مَادِحُكَ

"जो शख़्स तुम्हें नसीहत करे, वह उससे बेहतर है जो तुम्हारी तारीफ़ करे।"

जो आदमी हक़ीक़त-पसंद हो, वह यक़ीनन तनक़ीद या इख़्तिलाफ़-ए-राय को अपने लिए एक नेमत समझेगा, क्योंकि तनक़ीद और इख़्तिलाफ़-ए-राय हमेशा फ़िक्र के नए दरवाज़े खोलने वाले हैं।

तनक़ीद या इख़्तिलाफ़-ए-राय को खुले ज़ेहन के साथ सुनना मेरे नज़दीक कोई तक़्वा की बात नहीं है, बल्कि वह ख़ालिस इल्मी बात है। यह इस बात का सबूत है कि आदमी के अंदर साइंटिफ़िक टेम्पर मौजूद है। साइंटिफ़िक टेम्पर अपनी असल के एतिबार से यह है कि आदमी के अंदर हक़ीक़त को मानने का मिज़ाज हो। जब आप अपना यह हक़ समझते हैं कि आप आज़ादाना तौर पर सोचें, और आज़ादाना राय क़ायम करें, तो फ़ितरत के क़ानून के मुताबिक़, आपको यह भी मानना चाहिए कि दूसरे शख़्स को भी यकसाँ तौर पर अपनी राय रखने और उसके इज़हार का हक़ हासिल है। इस एतिबार से देखा जाए, तो इख़्तिलाफ़-ए-राय को खुले ज़ेहन के साथ सुनना, गोया हक़ीक़त-ए-वाक़िआ का एतिराफ़ करना है। इसी एतिराफ़ का दूसरा नाम साइंटिफ़िक स्पिरिट है।

फ़िक्री तअद्दुद, फ़िक्री हुर्रियत

इस्लाम में फ़िक्री आज़ादी कामिल दर्जे में पाई जाती है। इसका सबब यह है कि फ़िक्री आज़ादी के बग़ैर ख़ुदा का तख़्लीक़ी मंसूबा (creation plan) पूरा नहीं हो सकता। इंसान को मौजूदा दुनिया में इम्तिहान के लिए रखा गया है, और यह मक़सद सिर्फ़ उसी वक़्त पूरा हो सकता है जब इंसान को अपने क़ौल-ओ-अमल की पूरी आज़ादी हासिल हो।

इस्लाम फ़िक्री आज़ादी को पूरी तरह तस्लीम करता है, लेकिन फ़िक्री तअद्दुद (intellectual diversity) का तसव्वुर इस्लाम में नहीं है। इस्लाम के मुताबिक़, हर आदमी को यह हक़ है कि वह जिस राय को चाहे, इख़्तियार करे। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हर राय दुरुस्त है। इस मामले में इस्लामी तसव्वुर यह है कि हक़ीक़त के एतिबार से तो सिर्फ़ एक ही राय दुरुस्त है, लेकिन आज़ादी के एतिबार से हर इंसान को यह हक़ है कि वह अपने लिए इस दुनिया में जिस राय को चाहे, इख़्तियार करे।

आज़माइश के सिवा इस उसूल की एक और अहमियत यह है कि फ़िक्री आज़ादी के माहौल में यह मुमकिन होता है कि लोगों के दरमियान आज़ादाना डिस्कशन हो — और आज़ादाना डिस्कशन से यह फ़ायदा हासिल होता है कि समाज के अंदर ज़ेहनी तरक्की का अमल जारी रहे।

फ़िक्री आज़ादी का तसव्वुर इंसान की ज़ेहनी तरक्की के लिए बेहद अहम है। हक़ीक़त यह है कि फ़िक्री आज़ादी के बग़ैर ज़ेहनी तरक्की मुमकिन नहीं है। किसी समाज में फ़िक्री आज़ादी को मम्नू (taboo) क़रार देना सिर्फ़ इस क़ीमत पर होता है कि वह समाज फ़िक्री ठहराव (intellectual stagnation) का शिकार हो जाए। लेकिन अगर एक से ज़्यादा फ़िक्री नज़रिये को उसूलन दुरुस्त मान लिया जाए, तो इसके नतीजे में जो चीज़ पैदा होगी, वह फ़िक्री अराजकता है — और फ़िक्री अराजकता एक ग़ैर-सेहतमंद हालत है। फ़िक्री अराजकता किसी आदमी को कन्फ़्यूज़न के सिवा कहीं नहीं पहुँचाती।

मुख़ालिफ़त नहीं

मुख़ालिफ़त (opposition) और इख़्तिलाफ़ (differences) — दोनों में एक चीज़ समान है, वह यह कि दोनों का आग़ाज़ डिस्प्यूट

(dispute) से होता है, लेकिन अमली एतिबार से दोनों में बहुत बड़ा फ़र्क़ है। यह फ़र्क़ इतना ज़्यादा है कि अपने नतीजे के एतिबार से, इख़्तिलाफ़ पूरी तरह एक जायज़ फ़ेल है और मुख़ालिफ़त पूरी तरह एक नाजायज़ फ़ेल है। दुरुस्त इख़्तिलाफ़ वह है जो तमामतर इल्मी हक़ाइक़ पर मबनी हो, जिसमें शुरू से आख़िर तक मालूम हक़ाइक़ की बुनियाद पर गुफ़्तगू की जाए।

इसके बरअक्स, मुख़ालिफ़त में सारी बहस नियत पर हमला और इल्ज़ाम तराशी पर होती है। इख़्तिलाफ़ में रायों का बदलना मुमकिन होता है। एक फ़रीक़ की राय अगर इल्मी तज्ज़िया में दुरुस्त साबित हो, तो दूसरा फ़रीक़ फ़ौरन उसको मान लेता है।

इख़्तिलाफ़ की हैसियत एक इल्मी तबादला-ए-ख़्याल की होती है। इससे दोनों फ़रीक़ की मालूमात में इज़ाफ़ा होता है; वह दोनों फ़रीक़ के लिए ज़ेहनी तरक्की का ज़रिया बनता है। इख़्तिलाफ़ अपनी हक़ीक़त के एतिबार से, बहस-ओ-तकरार का नाम नहीं है, बल्कि वह एक आला दर्जे की इल्मी तलाश (scientific pursuit) का नाम है। इसमें दोनों फ़रीक़ हार और जीत के तसव्वुर से ऊपर उठकर मुश्तरक तौर पर अम्र-ए-हक़ को दरियाफ़्त करने की कोशिश करते हैं।

इसके बरअक्स, मुख़ालिफ़त एक मंफ़ी सरगर्मी का नाम है। मुख़ालिफ़त एक ऐसा फ़ेल है जो हमेशा इल्मी बे-इमानी पर क़ायम होता है। मुख़ालिफ़त एक ऐसा फ़ेल है जो ग़ैर-इल्मी भी है और ग़ैर-अख़लाक़ी भी। मुख़ालिफ़त का कोई भी मुसबत फ़ायदा नहीं — न एक फ़रीक़ के लिए, न दूसरे फ़रीक़ के लिए।

मुख़ालिफ़त यह है कि एक शख़्स को किसी से दुश्मनी हो जाए, तो वह उसकी तौहीन, उस पर ऐब ज़नी और उसके ख़िलाफ़ इल्ज़ाम तराशी में लगा रहे — इख़्तिलाफ़-ए-राय एक फ़रिश्ताना फ़ेल (अल-बक़रा, 2:30) है और मुख़ालिफ़त तमामतर एक शैतानी फ़ेल है।

इख़्तिलाफ़ और एकता

हर कोई एकता चाहता है, लेकिन अमलन एकता क़ायम नहीं होती। इसका सबब क्या है? इसका सबब यह है कि एकता को क़ायम करने के लिए जो तदबीर इख़्तियार की जाती है, वह ग़ैर-फ़ितरी होती है। यही वजह है कि एकता के नाम पर बड़े-बड़े जलसे होते हैं, लेकिन अमलन एकता क़ायम नहीं होती।

एकता के चाहने वालों की मुश्तरक ग़लती यह है कि वे इख़्तिलाफ़ को मिटाकर एकता क़ायम करना चाहते हैं। हर कोई यह समझता है कि इख़्तिलाफ़ की मौजूदगी ही एकता क़ायम न होने का असल सबब है। हर एक की कोशिश यह है कि इख़्तिलाफ़ात को मिटा दिया जाए। उनका ख़याल है कि हक़ीक़ी एकता उसी वक़्त क़ायम हो सकती है, जब लोगों के दरमियान आपस के इख़्तिलाफ़ात का ख़ातमा कर दिया जाए। मगर इस क़िस्म की एकता इस आलम-ए-इम्तिहान में कभी वाक़िआ बनने वाली नहीं।

असल यह है कि इख़्तिलाफ़ ख़ुद फ़ितरत का एक लाज़िमी हिस्सा हैं, और जो चीज़ फ़ितरत का हिस्सा हो, उसको ख़त्म करना कभी मुमकिन नहीं होता। हक़ीक़त यह है कि एकता क़ायम करने का एक ही मुमकिन तरीक़ा है, और वह है — इख़्तिलाफ़ को बर्दाश्त करना। इस दुनिया में जब भी एकता क़ायम होगी, वह इख़्तिलाफ़ के बावजूद होने से क़ायम होगी। इख़्तिलाफ़ को मिटाकर एकता क़ायम करना इस दुनिया में अमलन मुमकिन ही नहीं।

ख़ालिक़ ने इंसान को इस तरह पैदा किया है कि उनके दरमियान हमेशा इख़्तिलाफ़ पाया जाए। यह इख़्तिलाफ़ इंसान के लिए एक अज़ीम रहमत है। इख़्तिलाफ़ की बुनियाद पर दो शख़्सों या दो गिरोहों

के दरमियान डायलॉग होता है, और डायलॉग दोनों फ़रीक़ों के लिए ज़ेहनी तरक्की (intellectual development) का ज़रिया बनता है। इख़्तिलाफ़ की हैसियत एक फ़िक्री चैलेंज की है।

फ़िक्री चैलेंज का नतीजा यह होता है कि बंद ज़ेहन के दरवाज़े खुलते हैं, इंसान के अंदर छिपे हुए इम्कानात ज़ाहिर होते हैं; जो चीज़ बिल-क़ुव्वा (potential) तौर पर ज़ेहन में मौजूद थी, वह बिल-फ़ेल (actual) वुक़ू में आ जाती है।

इख़्तिलाफ़ को हल करने की तदबीर

क़दीम ज़माने में कहा जाता था कि:

الْحَرْبُ أَنْفَى لِلْحَرْبِ

“जंग का तोड़ जंग है।”

यह फ़िक्र हज़ारों बरस से इंसान के अंदर चली आ रही थी। बदक़िस्मती से यही फ़िक्र ख़ुद मुसलमानों में किसी न किसी तौर पर जारी रही। हज़रत उस्मान की शहादत से लेकर अब तक की मुस्लिम तारीख़ में इसके नमूने फैले हुए हैं। 1948 में फ़लस्तीन का मसला पैदा हुआ, जो अमलन पूरी मुस्लिम दुनिया का सबसे बड़ा मसला बन गया। इस वक़्त भी तमाम मुस्लिम ज़ेहन इसी ढंग पर सोचने लगे हैं। इस सोच की नुमाइंदगी एक अरब शायर ख़ैरुद्दीन अल-ज़िरिकली (1893–1976) के शेर में इन अल्फ़ाज़ में मिलती है:

هَاتِي صَلَاحَ الدِّينِ ثَانِيَةً فِينَا وَجَدِّدِي حِطِّينَ أَوْ شِبْهَ حِطِّينَا

“सलाहुद्दीन अय्यूबी को एक बार फिर हमारे दरमियान लाओ, और हत्तीन या उस जैसा कोई और मारका दोबारा बरपा करो।”

इक़बाल अपने इल्म और ज़हानत के बावजूद इस फ़िक्र से ऊपर न उठ सके। उनका पूरा कलाम किसी न किसी तौर पर इसी फ़िक्र की नुमाइंदगी करता है। मिसाल के तौर पर उनका यह शेर पढ़िए:

گفتند جہان ما آیتو می سازد
گفتم کہ نمی سازد گفتند کہ برہم زن

यानि पूछा गया कि मेरी दुनिया का निज़ाम तुम्हें पसंद आया? मैंने कहा: नहीं। कहा गया: इसे दरहम-बरहम कर डालो।

मगर इस्लाम ने इख़्तिलाफ़ के मामले में ज़मानी रुझान के बरअक्स फ़ितरी उसूल राइज किया। जंग क्यों होती है? जंग हमेशा इख़्तिलाफ़ात के नतीजे में होती है। लोग इख़्तिलाफ़ को सिर्फ़ मिटाना जानते थे, इसलिए वे फ़ौरन फ़रीक़-ए-सानी से लड़ जाते थे। इस्लाम ने इस मामले में एक नए उसूल को रिवाज दिया। क़ुरआन में यह उसूल इन अल्फ़ाज़ में बताया गया है:

الصُّلْحُ خَيْرٌ (4:128)

"सुल्ह बेहतर है।"

सुल्ह क्या है? सुल्ह यह है कि इख़्तिलाफ़ को मिटाने पर ज़ोर न दिया जाए, बल्कि इख़्तिलाफ़ को गवारा करते हुए ताल्लुक़ात को बेहतर बनाने की कोशिश की जाए।

الصُّلْحُ يَخْتَصُّ بِإِزَالَةِ النِّفَارِ بَيْنَ النَّاسِ

— मुफ़रदातुल-क़ुरआन, अल-अस्फ़हानी, p.489

यानी इसका मतलब है: इख़्तिलाफ़ के बावजूद एकता।

इस फ़ॉर्मूले को इस तरह बयान किया जा सकता है:

Art of difference management.

पैग़म्बर-ए-इस्लाम (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) की पूरी ज़िंदगी इसी तदबीर का अमली नमूना है। मिसाल के तौर पर, आपने क़दीम मक्का में 610 ई. में दावत-ए-तौहीद का मिशन शुरू किया। उस वक़्त, तौहीद के नुक्ता-ए-नज़र से मक्का में सबसे ज़्यादा संगीन मसला यह था कि तौहीद के घर (काबा) में 360 बुत रखे हुए थे। मगर उस वक़्त क़ुरआन में इस मफ़हूम की कोई आयत नहीं उतरी:

طَهِّرْ الْكَعْبَةَ مِنَ الْأَصْنَامِ

"काबा को बुतों से पाक करो।"

बल्कि इसके बजाय क़ुरआन में यह आयत उतरी:

وَثِيَابَكَ فَطَهِّرْ

"अपने अख़्लाक़ को दुरुस्त करो।" (74:4)

इस क़ुरआनी उसूल पर अमल करते हुए, पैग़म्बर-ए-इस्लाम ने यह किया कि आपने मक्का के तेरह साला क़ियाम के ज़माने में कभी बुतों को तोड़ने की कोशिश नहीं की। इसके बजाय, आपने यह किया कि लोगों को तौहीद का पैग़ाम देने की पुर-अमन जद्दोजहद शुरू कर दी। पैग़म्बर-ए-इस्लाम की ज़िंदगी में इस क़िस्म की बहुत सी मिसालें मिलती हैं। उनमें एक नुमायाँ मिसाल सुल्ह-ए-हुदैबिया (628 ई.) का वाक़िआ है। यह सुल्ह, गोया, इख़्तिलाफ़ को मैनेज करने की एक कामयाब मिसाल थी, जो इंसानी तारीख़ में ग़ालिबन पहली बार निहायत कामयाबी के साथ क़ायम की गई।

पैग़म्बर-ए-इस्लाम (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) ने अपनी उम्मत को पूरी शिद्दत के साथ आगाह किया था कि इख़्तिलाफ़ चाहे कितना ही बड़ा हो, वह हर हाल में इख़्तिलाफ़ात को मैनेज करके उसको हल करे। किसी भी हाल में वह ऐसा न करे कि एकता के नाम पर इख़्तिलाफ़ को मिटाने की कोशिश करे। हदीस के मजमुओं में किताब-

उल-फितन के तहत कसरत से इस क़िस्म की रिवायतें आई हैं, जिनमें यह कहा गया है कि मेरे बाद हाकिम और उनके दरबारियों के अंदर बिगाड़ आएगा, मगर तुम हरगिज़ उनसे टकराव न करना। तुम ज़ुल्म के बावजूद उनका हक़ अदा करना और अपने हक़ के लिए अल्लाह से दुआ करना:

أَدُّوا إِلَيْهِمْ حَقَّهُمْ وَسَلُوا اللهَ حَقَّكُمْ

— (सहीह अल-बुख़ारी, ह.न. 7052)

इस मामले में एक हदीस वह है जो अबू दाऊद, अल-तिर्मिज़ी, इब्न माजा और मुस्नद अहमद में आई है। यह एक लंबी रिवायत है; इसका आख़िरी हिस्सा यह है:

وَإِنِّي لَا أَخَافُ عَلَى أُمَّتِي إِلَّا الْأَئِمَّةَ الْمُضِلِّينَ، فَإِذَا
وُضِعَ السَّيْفُ فِي أُمَّتِي لَمْ يُرْفَعْ عَنْهُمْ إِلَى يَوْمِ الْقِيَامَةِ

“मुझे अपनी उम्मत के बारे में सबसे ज़्यादा अंदेशा गुमराह करने वाले लीडरों से है, और जब तलवार मेरी उम्मत में दाख़िल हो जाएगी, तो वह फिर क़यामत तक नहीं हटाई जाएगी।”

(मुस्नद अहमद, ह.न. 17115)

इस हदीस का मतलब दरअसल यह है कि उम्मत में जब इख़्तिलाफ़ात पैदा होंगे, तो ना-अहल लीडर इख़्तिलाफ़ को मैनेज करने के उसूल पर उसको ख़त्म न कर सकेंगे, बल्कि वे इख़्तिलाफ़ को दूर करने के नाम पर लड़ाई छेड़ देंगे। और जब एक बार उम्मत में दीन के नाम पर लड़ाई की रिवायत क़ायम हो जाएगी, तो इज्तिमाई नफ़्सियात की बुनियाद पर वह क़यामत तक जारी रहेगी।

हदीस की यह पेशीनगोई बदक़िस्मती से उम्मत की बाद की तारीख़ के बारे में दुरुस्त साबित हुई। उम्मत में तलवार के ज़ोर से फ़ैसला करने

का तरीक़ा तीसरे ख़लीफ़ा हज़रत उस्मान बिन अफ़्फ़ान की शहादत के साथ शुरू हुआ। इसके बाद वह इस तरह मुसलसल जारी हो गया कि उम्मत की हज़ार साला तारीख़ में वह कभी ख़त्म नहीं हो पाया। चौथे ख़लीफ़ा हज़रत अली और हज़रत उस्मान के क़त्ल के नाम पर उठने वालों के दरमियान जंग, हज़रत हुसैन और यज़ीद के दरमियान जंग, बनू उमय्या और बनू अब्बास के दरमियान जंग, सुन्नी और शिया के दरमियान जंग, मुग़लों और ग़ैर-मुग़लों के दरमियान जंग, इसी तरह मौजूदा ज़माने में सेक्युलर हुक्मरानों और इस्लाम-पसंद जमातों के दरमियान जंग — वग़ैरह, सब इसी की मिसालें हैं।

हदीस में आया है कि रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) ने फ़रमाया:

اخْتِلَافُ أُمَّتِي رَحْمَةٌ

"मेरी उम्मत का इख़्तिलाफ़ रहमत है।"

(अल-मक़ासिद अल-हसना, अल-सख़ावी, ह.न. 39)

इस हदीस का मतलब यह है कि इख़्तिलाफ़ (difference) ख़ुदा के तख़्लीक़ी नक़्शे का एक हिस्सा है। वह फ़ितरत का एक लाज़िमी जुज़् है, इसलिए इख़्तिलाफ़ कभी ज़िंदगी से ख़त्म नहीं होता। उम्मत के अस्हाब-ए-इल्म व मारिफ़त को चाहिए कि वे इस राज़ को समझें और इख़्तिलाफ़ को मिटाने की कोशिश करने के बजाय इख़्तिलाफ़ के साथ जीने का तरीक़ा इख़्तियार करें। दूसरे लफ़्ज़ों में यह कि वह डिफरेंस मैनेजमेंट (Difference Management) के उसूल पर इस मसले को हल करें। इस तरह सुन्नत की पैरवी की सूरत में इख़्तिलाफ़ उम्मत-ए-मुहम्मदी के लिए रहमत बन जाएगा। इख़्तिलाफ़ के होते हुए वह तरक़्क़ी का पुर-अमन सफ़र कामयाबी के साथ तय कर सकेंगे।

हक़ीक़त यह है कि जिस तरह दूसरी बहुत सी सुन्नतें हैं, उसी तरह वह चीज़ भी एक सुन्नत-ए-रसूल है, जिसको हमने आर्ट ऑफ़ डिफरेंस मैनेजमेंट का नाम दिया है। इस उसूल का ताल्लुक़ इस्लाम के तमाम पहलुओं से है — कोई भी पहलू इससे ख़ाली नहीं।

मिसाल के तौर पर, फ़िक़्ही इख़्तिलाफ़ात जो हज़ार साल से अब तक टकराव का सबब बने हुए हैं, उनके मामले में डिफरेंस मैनेजमेंट का सादा उसूल यह है कि यह मान लिया जाए कि किसी काम को करने के एक से ज़्यादा तरीक़े हो सकते हैं, न कि सिर्फ़ एक। इनमें से जिस तरीक़े की भी पैरवी की जाए, वह दुरुस्त होगी:

بِأَيِّهِمُ اقْتَدَيْتُمُ اهْتَدَيْتُمْ

(जामे बयानिल-इल्म, इब्न अब्दिल-बर्र, ह.न. 1760)

इसी तरह हज़रत अली और हज़रत मुआविया का मामला, या यह सवाल कि चारों ख़ुलफ़ा के दरमियान तफ़्ज़ील (तर्जीह) की बहस — इस क़िस्म के मामलात में डिफरेंस मैनेजमेंट के उसूल को लागू करना यह है कि इसको ख़ुदा के हवाले कर दिया जाए, और हर फ़िरक़ा अपनी आज की तामीरी ज़िम्मेदारियों को अदा करने में मशग़ूल हो जाए।

मौजूदा ज़माने में अक्सर मुस्लिम मुल्कों में सेक्युलर हुक्मरानों और इस्लाम-पसंद जमातों के दरमियान तबाहकुन टकराव जारी है। इस मामले में डिफरेंस मैनेजमेंट के उसूल को लागू करने का तरीक़ा यह है कि इस्लाम-पसंद जमातें हुकूमत के दायरे में सीधे दख़ल देने का तरीक़ा छोड़ दें। वह ग़ैर-हुकूमती दायरे में, मसलन तालीम और इस्लाह और दावत के शोबों में अपनी कोशिशें सर्फ़ करें।

मौजूदा ज़माने में हम देखते हैं कि मुसलमान लीडर या मुस्लिम गिरोह मुख़्तलिफ़ मुल्कों में किसी न किसी क़ौमी या मिल्ली मक़सद के हवाले से ग़ैर-मुस्लिम हुकूमतों से हिंसक टकराव में लगे हुए हैं।

मसलन: फ़लस्तीन और कश्मीर और चेचन्या और फ़िलिपींस वग़ैरह में। इन मुक़ामात पर डिफरेंस मैनेजमेंट के उसूल की एप्लीकेशन यह है कि हर क़िस्म के तशद्दुद को मुकम्मल तौर पर तर्क कर दिया जाए, और सिर्फ़ मुसल्लिमा पुर-अमन तरीक़-ए-कार की पाबंदी करते हुए अपनी तहरीक चलाई जाए।

क़ुरआन की आयत:

الصُّلْحُ خَيْرٌ (4:128)

"अस-सुल्हु ख़ैरुन — सुल्ह बेहतर है।"

बताती है कि डिफरेंस मैनेजमेंट का मज़कूरा तरीक़ा मुतलक़ तौर पर ख़ैर का सबब है। वह हर हाल में क़ाबिल-ए-अमल है। यह तरीक़ा सिर्फ़ उस वक़्त नाक़ाबिल-ए-अमल बन जाता है जब मुसलमान तशद्दुद का आग़ाज़ करके फ़िज़ा को बिगाड़ दें। तशद्दुद का आग़ाज़ लाज़िमी तौर पर जवाबी तशद्दुद पैदा करेगा और पुर-अमन तरीक़-ए-कार को इख़्तियार करना मुमकिन न रहेगा। अगर मुसलमान यह ग़लती करें कि तशद्दुद का आग़ाज़ करके वह सूरत-ए-हाल को बिगाड़ दें, तो ख़ुद उन्हीं को दोबारा सूरत-ए-हाल को नॉर्मल बनाने की ज़िम्मेदारी लेनी पड़ेगी। और वह ज़िम्मेदारी यह है कि वह अपने तशद्दुद को एक-तरफ़ा तौर पर ख़त्म कर दें, ताकि वह मुवाफ़िक़ फ़िज़ा पैदा हो जिसमें डिफरेंस मैनेजमेंट पर अमल करना मुमकिन हो जाए।

इस्लाम दीन-ए-फ़ितरत है। मज़कूरा उसूल फ़ितरत ही का एक उसूल है, जिसको इस्लाम में इख़्तियार किया गया है। असल यह है कि मौजूदा दुनिया का निज़ाम ख़ुदा ने इस तरह बनाया है कि यहाँ लाज़िमन एक और दूसरे के दरमियान इख़्तिलाफ़ात पैदा हों। एक और दूसरे के दरमियान मुख़्तलिफ़ एतिबार से इतना ज़्यादा फ़र्क़ पाया जाता है कि हर इंसान को "मिस्टर डिफरेंट" कहना सही होगा। इस दुनिया में हर समाज

फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ वाला समाज है। यह फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ चूँकि ख़ुद फ़ितरत का एक लाज़िमी हिस्सा है, इसलिए इसको ख़त्म करना मुमकिन नहीं।

ऐसी हालत में क़ाबिल-ए-अमल सूरत सिर्फ़ यह है कि फ़र्क़ के साथ निभाने का उसूल इख़्तियार किया जाए, न कि फ़र्क़ को मिटाने का।

It requires difference management rather than eliminating the difference.

फ़ितरत के इस उसूल का तअल्लुक़ मज़हबी मामलों से भी है और सेक्युलर मामलों से भी। इस दुनिया में कोई भी निज़ाम, मज़हबी हो या ग़ैर-मज़हबी, कामयाबी से वही लोग बना सकते हैं जो डिफरेंस मैनेजमेंट का आर्ट जानते हों। फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ को मिटाना तशद्दुद पैदा करता है, और फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ को मैनेज करना अमन और हम-आहंगी का सबब बनता है।

फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ कोई बुराई नहीं है; वह तरक़्क़ी का ज़ीना है। फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ से इज्तिमाई ज़िंदगी में चैलेंज पैदा होता है। और चैलेंज का सामना करना ही इस दुनिया में हर क़िस्म की तरक़्क़ी का वाहिद राज़ है।

इख़्तिलाफ़ और रवादारी

रवादारी (tolerance) एक आला इंसानी और इस्लामी सिफ़त है। रवादारी का मतलब है दूसरों की रिआयत करना। इसके मुक़ाबले में अदम-ए-रवादारी यह है कि आदमी सिर्फ़ अपने आप को जाने, वह दूसरों के तक़ाज़ों से बेख़बर हो जाए। रवादारी एक आला इंसानी स्पिरिट है। इसको शरीअत में मुख़्तलिफ़ अल्फ़ाज़ में बयान किया

गया है। मिसाल के तौर पर — रिफ़्क़, तालीफ़-ए-क़ल्ब, शफ़क़त अलल-ख़ल्क़, वग़ैरह।

आदमी के अंदर जब ख़ुदा परस्ती और सच्ची दीनदारी आती है, तो वह ख़ुद-ग़र्ज़ी के तहत पेश आने वाली तमाम बुराइयों से ऊपर उठ जाता है। वह अपनी ज़ात में जीने के बजाय हक़ाइक़ में जीने लगता है। ऐसा इंसान ऐन अपने मिज़ाज के मुताबिक़ दूसरों को मोहब्बत की नज़र से देखने लगता है। वह दूसरों से किसी चीज़ का उम्मीदवार नहीं होता, इसलिए दूसरे अगर उससे इख़्तिलाफ़ रखें या उसके साथ अच्छा सुलूक न करें — तब भी वह दूसरों का ख़ैरख़्वाह बना रहता है। तब भी वह दूसरों की रिआयत करता है। तब भी वह दूसरों के साथ अपने रवादाराना सुलूक को बाक़ी रखता है।

रवादारी यह है कि आदमी हर हाल में दूसरे की इज़्ज़त करे — ख़्वाह वह उसके मुवाफ़िक़ हो या उसके ख़िलाफ़। वह हर हाल में दूसरे को आला इंसानी दर्जा दे — ख़्वाह वह उसका अपना हो या ग़ैर। वह दूसरे के मामले को हर हाल में हमदर्दी का मामला समझे — ख़्वाह दूसरे की तरफ़ से ब-ज़ाहिर ग़ैर-हमदर्दाना सुलूक का इज़हार क्यों न हुआ हो।

रवादारी का मतलब दरअसल दूसरों की रिआयत करना है। इज्तिमाई ज़िंदगी में लाज़िमी तौर पर एक और दूसरे के दरमियान इख़्तिलाफ़ात पेश आते हैं। मज़हब, कल्चर, रिवाज और ज़ाती ज़ौक़ का फ़र्क़ हर समाज में बाक़ी रहता है। ऐसी हालत में आला इंसानी तरीक़ा यह है कि आदमी अपने उसूल पर क़ायम रहते हुए दूसरे के साथ रिआयत और तवस्सुत का तरीक़ा इख़्तियार करे। वह अपनी ज़ात के मामले में उसूल-पसंद हो, मगर दूसरे के मामले में रवादार। वह अपने आप को अपने उसूलों के मयार की रौशनी में जाँचे, मगर जब दूसरों का मामला हो, तो वह रवादारी और बड़ादिली का तरीक़ा इख़्तियार करे।

यह रवादारी इंसानी शराफ़त का लाज़िमी तक़ाज़ा है। इस्लाम आदमी के अंदर यही आला शराफ़त पैदा करता है।

रवादारी का उसूल

जनवरी 1995 की पहली तारीख़ को तमाम अख़बारों में यह ख़बर थी कि यूनाइटेड नेशंस ने 1995 के साल को रवादारी का साल (Year of Tolerance) क़रार देने का ऐलान किया है। यूनाइटेड नेशंस के हेडक्वार्टर न्यूयॉर्क से जारी होने वाले ऐलानिया में कहा गया था कि अपने अमल, अपने अक़ीदे और अपनी राय में रवादार होना वह सबसे बड़ा आमिल है जिसके ज़रिए पुर-अमन दुनिया तामीर की जा सकती है।

मौजूदा ज़माने में जगह-जगह नस्ली टकराव, अक़लियतों के ख़िलाफ़ इम्तियाज़ और रिफ्यूजियों के ख़िलाफ़ नफ़रत का इज़हार हो रहा है। इसका वाहिद हल रवादारी ही है। नस्ल-परस्ती और मज़हबी इंतिहा-पसंदी बहुत से मुल्कों में इम्तियाज़ी सुलूक तक पहुँच गई है। उन लोगों को डराया-धमकाया जा रहा है जो मुख़्तलिफ़ नुक्ता-ए-नज़र रखते हैं। इस तरह उन लेखकों और पत्रकारों के ख़िलाफ़ हिंसक वाक़िआत हो रहे हैं जो इज़हार-ए-ख़्याल की आज़ादी के हक़ को इस्तेमाल करना चाहते हैं।

इक्कीसवीं सदी की आमद के मौक़े पर यह ज़बरदस्त चैलेंज हमारे सामने है, और इसका वाहिद हल रवादारी है। ना-रवादारी सिर्फ़ मसाइल में इज़ाफ़ा करती है; वह मसाइल को ख़त्म नहीं करती। ना-रवादारी अगर ज़्यादा बढ़ जाए, तो वह आलमी अमन के लिए एक ज़बरदस्त ख़तरा बन जाएगी। (हिन्दुस्तान टाइम्स)

“1995 as Year of Tolerance”

The United Nations has proclaimed 1995 as the Year of Tolerance, saying the ability to be tolerant of the actions, beliefs and opinions of others is a major factor in promoting world peace. Amid the resurgence of ethnic conflicts, discrimination against minorities and xenophobia directed against refugees and asylum-seekers, tolerance is the only way forward, said the statement of the United Nations Educational, Scientific and Cultural Organisation (UNESCO). It said, racism and religious fanaticism in many countries had led to many forms of discrimination and the intimidation of those who hold contrary views. Violence and intimidation against authors, journalists and others who exercise their freedom of expression, were also on the increase along with political movements which seek to make particular groups responsible for social ills such as crime and unemployment. Intolerance is one of the greatest challenges we face on the threshold to the 21st century, said the UNESCO statement. Intolerance is both an ethnic and a political problem. It is a rejection of the differences between individuals and between cultures. When intolerance becomes organised or institutionalised it destroys democratic principles and poses a threat to world peace.

(The Hindustan Times, January 1, 1995)

यूनाइटेड नेशंस का यह ऐलान निहायत सही और बरवक़्त है। आज दुनिया को सबसे ज़्यादा जिस चीज़ की ज़रूरत है, वह यही रवादारी या टॉलरेंस है।

ज़िंदगी की हक़ीक़तों में से एक हक़ीक़त यह है कि इंसान और इंसान के दरमियान फ़र्क़ होता है। यह फ़र्क़ हर सतह पर पाया जाता है — ख़्वाह कोई ख़ानदान हो, कोई समाज हो, या कोई मुल्क — हर जगह एक और दूसरे में फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ ज़रूर पाया जाएगा। अब सवाल यह है कि इस फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ की मौजूदगी में एकता और मेल-मिलाप किस तरह पैदा किया जाए।

कुछ लोग समझते हैं कि एकता का माहौल अगर बनाना है, तो इख़्तिलाफ़ात को मिटा देना होगा। मगर यह राय ग़लत है, क्योंकि यह क़ाबिल-ए-अमल नहीं। अगर आप फूल के साथ काँटे को पसंद न करते हों, तो आप ऐसा नहीं कर सकते कि काँटों को तोड़कर काँटों का ख़ात्मा कर दें। क्योंकि आप डाली का एक काँटा तोड़ेंगे, तो उसकी जगह दूसरा काँटा निकल आएगा। यहाँ तक कि अगर आप तमाम फूलों पर बुलडोज़र चला दें, तब भी जो नया दरख़्त उगेगा, उसमें दोबारा फूल के साथ काँटे भी ज़रूर मौजूद होंगे।

इस दुनिया में काँटों को गवारा करके ही फूल को हासिल किया जा सकता है। इसी तरह, इख़्तिलाफ़ात को बर्दाश्त करके ही पुर-अमन समाज बनाया जा सकता है। इस दुनिया में इख़्तिलाफ़ के बावजूद मुत्तहिद होने से एकता हासिल होती है — न कि इख़्तिलाफ़ को मिटाकर मुत्तहिद होने से। क्योंकि इख़्तिलाफ़ को मिटाना सरासर नामुमकिन है। अमन की ज़िंदगी को हासिल करने का वाहिद राज़ है — बे-अमनी को गवारा करना।

दुनिया में फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ होना कोई बुराई की बात नहीं। यह एक मुसबत ख़ुसूसियत (positive quality) है, और इसके बहुत से

बड़े-बड़े फ़ायदे हैं। बाग़-ए-हयात की ख़ूबसूरती के लिए ज़रूरी है कि उसमें एकता के फूल के साथ इख़्तिलाफ़ का काँटा भी पाया जाए।

इसका एक फ़ायदा यह है कि इसके ज़रिए इंसानों में आला अख़्लाक़ियात की तर्बियत होती है। अपने हमख़याल लोगों के दरमियान अगर आप ख़ुश-अख़्लाक़ हों, तो आपने महज़ इब्तिदाई अख़्लाक़ का सुबूत दिया। लेकिन अगर आप उन लोगों के दरमियान भी ख़ुश-अख़लाक़ी का रवैया इख़्तियार करें जो आपसे अलग ख़्याल रखते हैं या आप पर तनक़ीद करते हैं, तो आप इस बात के हक़दार हुए कि आपको आला अख़लाक़ी सुलूक का क्रेडिट दिया जाए।

इसी तरह, अगर समाज में तमाम लोग बिल्कुल एक राय हों, उनमें कोई इख़्तिलाफ़ी बहस पैदा न होती हो, तो ऐसा समाज पत्थर की मूर्ति बन जाएगा। उसके दरमियान रहने वालों की फ़िक्री तरक्की रुक जाएगी।

फ़िक्री तरक्की हमेशा इख़्तिलाफ़-ए-राय के ज़रिए होती है। फिर जहाँ इख़्तिलाफ़-ए-राय ही न हो, वहाँ फ़िक्री तरक्की किस तरह हो सकती है?

झगड़े और इख़्तिलाफ़ के मुक़ाबले में रवादारी (tolerance) का तरीक़ा इख़्तियार करना कोई कमज़ोरी की सिफ़त नहीं है। यह ऐन पॉज़िटिव सिफ़त है। ज़िंदगी की तामीर में इख़्तिलाफ़ात का निहायत अहम रोल है।

इख़्तिलाफ़ात के अमल के दौरान ही आला इंसानी शख़्सियत बनकर तैयार होती है। अगर इंसानी समाज से इख़्तिलाफ़ की हालत को ख़त्म कर दिया जाए, तो उसके बाद आला शख़्सियतों का बनना भी यक़ीनी तौर पर रुक जाएगा।

इस दुनिया में कोई भी इंसान परफेक्ट नहीं होता। हर आदमी का यह हाल होता है कि उसमें एक सिफ़त होती है, तो दूसरी सिफ़त

उसके अंदर नहीं होती। यह भी एक सबब है जिसकी वजह से लोगों के दरमियान फ़र्क़ और इख़्तिलाफ़ पैदा हो जाता है।

मगर इज्तिमाई ज़िंदगी के लिए यह इख़्तिलाफ़ एक रहमत है। क्योंकि इसी इख़्तिलाफ़ की बुनियाद पर यह मुमकिन होता है कि एक आदमी की कमी को दूसरा आदमी पूरा करे। एक की ख़ुसूसियत दूसरे के काम आए।

अगर लोगों के अंदर एक-दूसरे के इख़्तिलाफ़ को गवारा करने का मिज़ाज हो, तो यह इख़्तिलाफ़ मजमूई इंसानी तरक्की की एक ताक़तवर वसीला बन जाएगा।

1947 के बाद जब इंडिया में पहली आज़ाद हुकूमत बनी, तो उसमें दो अहम लीडर शामिल थे — एक पंडित जवाहरलाल नेहरू, दूसरे सरदार वल्लभभाई पटेल। पंडित नेहरू के अंदर मॉडर्न सोच का असर था, जबकि सरदार पटेल के अंदर रिवायती हिन्दुस्तानी सोच ज़्यादा मज़बूत थी। इस बुनियाद पर दोनों लीडरों में अक्सर राय का इख़्तिलाफ़ हो जाता था। मगर यह इख़्तिलाफ़ क़ौम के लिए निहायत मुफ़ीद साबित हुआ। क्योंकि पंडित नेहरू की सलाहियत से सरदार पटेल की कमी पूरी हुई, और सरदार पटेल की सलाहियत पंडित नेहरू की कमी को पूरा करने का ज़रिया बन गई।

यह एक करीबी मिसाल है, जिससे अंदाज़ा होता है कि राय और तबीयत का इख़्तिलाफ़ इंसानियत की उमूमी तरक्की के लिए कितना ज़्यादा ज़रूरी है।

रवादारी की ख़स्लत आदमी को इससे बचाती है कि वह अपने वक़्त और अपनी सलाहियत को ग़ैर-ज़रूरी चीज़ों में ज़ाया करने लगे। जब आप किसी दूसरे की ख़िलाफ़-मिज़ाज बात से मंफ़ी (negative) असर क़बूल कर लेते हैं, तो आपका ज़ेहनी बैलेंस बिगड़ जाएगा। इसके

बरअक्स, जब इस तरह की सूरत पेश आने पर आप उसका मंफ़ी असर न लें, तो आपका ज़ेहनी बैलेंस पूरी तरह बरक़रार रहेगा। आप अपना एक लम्हा खोए बग़ैर एक नॉर्मल इंसान की तरह हमेशा अपना काम जारी रखेंगे। रवादारी और तहम्मुल की पॉलिसी आपकी कार-कर्दगी (performance) की उम्र को बढ़ाती है, और बर्दाश्त न करना और तंग-दिली का रवैया आपकी कार-कर्दगी की उम्र को घटा देता है।

रवादारी या टॉलरेंस कोई मजबूराना फ़ेल नहीं है; वह ज़िंदगी का एक मुसबत उसूल है। यह एक आला इंसानी किरदार है। किसी समाज में रवादार इंसानों का होना ऐसा ही है जैसे किसी बाग़ में फूलों का होना। फूल के बग़ैर बाग़ नहीं; उसी तरह रवादार इंसानों के बग़ैर तरक्की-याफ़्ता समाज नहीं।

(ऑल इंडिया रेडियो, मुंबई से 3 मार्च 1995 को नश्र किया गया)

आर्ट ऑफ डिफरेंस मैनेजमेंट

तलाक़ के बारे में एक हदीस-ए-रसूल इन अल्फ़ाज़ में आई है:

“أَبْغَضُ الْحَلَالِ إِلَى اللهِ تَعَالَى الطَّلَاقُ”

“अल्लाह के नज़दीक हलाल में सबसे नापसंदीदा अमल तलाक़ है।” (सुनन अबू दाऊद, ह.न. 2178)

तलाक़ सबसे नापसंदीदा अमल क्यों है? इसका जवाब यह है कि निकाह का तरीक़ा इसलिए रखा गया था कि इंसान निकाह के ज़रिए अपनी तर्बियत का कोर्स मुकम्मल करे। वह कोर्स यह है कि मौजूदा दुनिया के बारे में ख़ालिक़ का नक़्शा-ए-तख़्लीक़ यह है कि आदमी इस राज़ को जाने कि इख़्तिलाफ़ को मैनेज करने का तरीक़ा क्या है। ज़िंदगी

में लाज़िमी तौर पर इख़्तिलाफ़ात पेश आते हैं। यह इख़्तिलाफ़ात इसलिए नहीं हैं कि आदमी लड़ना-भिड़ना शुरू कर दे, बल्कि इसलिए हैं कि आदमी पुर-अमन अंदाज़ में इनको मैनेज करे।

यह इख़्तिलाफ़ात किसी की साज़िश की वजह से नहीं हैं, बल्कि वह निज़ाम-ए-फ़ितरत का लाज़िमी नतीजा हैं। इन इख़्तिलाफ़ात के बारे में यह मतलूब नहीं है कि आदमी इनसे लड़ना शुरू कर दे या इनको बुराई समझकर शादी के बारे में मंफ़ी राय क़ायम कर ले। बल्कि आदमी की सारी प्लानिंग इस बुनियाद पर होनी चाहिए कि जो शादी हो गई, उसके साथ उसको निबाह करना है। कोई दूसरा ऑप्शन उसके लिए मुमकिन नहीं।

शादी का मक़सद ज़िंदगी की ख़ुशी हासिल करना नहीं है, बल्कि यह है कि ज़िंदगी को समझकर इंसान मुसबत अंदाज़ में उसकी तामीर करे — ऐसी तामीर जो पूरी इंसानियत के लिए मुफ़ीद हो। शादी दो इंसानों के दरमियान एकता का नाम नहीं है, बल्कि शादी एक समाजी ज़िम्मेदारी है। शादी समाज के उमूमी अमल का एक हिस्सा है। शादी मुस्तक़बिल की मंसूबा बंदी है, न कि वक़्ती तौर पर ख़ुशियों की एक दुनिया बनाना। ख़ुशियों की दुनिया बनाने का नज़रिया एक ऐसा नज़रिया है, जिसके बारे में कहा जा सकता है:

Prima facie it stands rejected.

चूँकि दुनिया में कोई शादी इस मयार पर पूरी नहीं उतरती। हर शादी इस मयार पर क़ाबिल-ए-रद क़रार पाती है।

आर्ट ऑफ लाइफ़

एक फौजी जनरल ने बताया कि आर्ट ऑफ वॉर (Art of war) क्या है। उसने कहा कि — सबसे ज़्यादा मुअस्सिर मुसल्लह फौज वह है

जो ग़ुस्से और नफ़रत के बिना लड़ाई करे:

The most effective armed forces are those who fight without anger or hate.

ऐसा क्यों है कि ग़ुस्से और नफ़रत के बग़ैर लड़ी जाने वाली जंग ज़्यादा कामयाब जंग होती है? इसका सबब यह है कि जब फौज ग़ुस्से और नफ़रत से ख़ाली हो, तो वह ज़्यादा बेहतर अंदाज़ में मुक़ाबले की मंसूबा बंदी कर सकती है। ग़ुस्सा और नफ़रत इंसान की अक़्ल को माऊफ़ (numb) कर देते हैं। ऐसी हालत में उसके लिए ज़्यादा बेहतर तदबीर-ए-कार इख़्तियार करना मुमकिन नहीं होता।

यह उसूल सिर्फ़ आर्ट ऑफ वॉर का उसूल नहीं है, बल्कि वह आर्ट ऑफ लाइफ़ का उसूल भी है। मैदान-ए-जंग से बाहर जो इंसानी ज़िंदगी है, वहाँ भी मुसलसल तौर पर अफ़राद और गिरोहों के दरमियान पुर-अमन मुक़ाबला जारी रहता है। इस पुर-अमन मुक़ाबले में ज़रूरत होती है कि फ़र्द या गिरोह अपने मामले की कामयाब मंसूबा बंदी करें। यह कामयाब मंसूबा बंदी दोबारा वही ज़हन कर सकता है जो ग़ुस्से और नफ़रत से ख़ाली हो, जो ग़ैर-मुतअस्सिर ज़हन के तहत हालात का अंदाज़ा करे, जो वाक़ियात का मंफ़ी असर लिए बग़ैर अपनी तदबीर का नक़्शा बनाए। ऐसा इंसान मामलात को बे-लाग अंदाज़ में देखता है; वह ख़ालिस हक़ाइक़ की रौशनी में अपने अमल का नक़्शा बनाता है। ऐसे ही लोग अपने हरीफ़ की पोज़ीशन का सही अंदाज़ा करते हैं। और जो लोग ऐसा करें, वही कामयाबी की मंजिल तक पहुँचते हैं।

हक़ीक़त यह है कि आर्ट ऑफ लाइफ़ का उसूल भी वही है जो आर्ट ऑफ वॉर का उसूल है। दोनों ही में कामयाबी वह लोग हासिल करते हैं जो मामलात पर मुसबत ज़हन के तहत ग़ौर करें। इसके बरअक्स, जो लोग मंफ़ी ज़हन के तहत सोचें, वह हमेशा नाकाम रहते हैं — जंग के मैदान में भी और पुर-अमन मैदान में भी।

शिकायत ख़त्म करने का तरीक़ा

सामाजिक ज़िंदगी में बार-बार ऐसा होता है कि एक आदमी को दूसरे से शिकायत और इख़्तिलाफ़ पैदा हो जाता है। यह बात ख़ानदान के अंदर भी होती है और ख़ानदान के बाहर भी। जब ऐसा होता है, तो लोग आम तौर पर यह करते हैं कि वे अपनी सफ़ाई पेश करने लगते हैं। वे कोशिश करते हैं कि किसी न किसी तरह वे अपने रवैय्ये को दुरुस्त साबित करें। शिकायत और इख़्तिलाफ़ पैदा होने के बाद हर कोई ऐसा ही करता है। लेकिन तजुर्बा बताता है कि इस तरह शिकायतें ख़त्म नहीं होतीं। लोग ब-ज़ाहिर चुप हो जाते हैं, लेकिन जो शिकायत थी, वह बदस्तूर दिल में बाक़ी रहती है। इसका नतीजा यह है कि हमारा समाज पूरा का पूरा शिकायत से भरा हुआ समाज बन गया है। हर कोई मंफ़ी नफ़्सियात में जीता है। मुसबत नफ़्सियात में जीने वाला इंसान कहीं नज़र नहीं आता।

इस मामले का हल सिर्फ़ यह है कि मौजूदा तरीक़े को ख़त्म कर दिया जाए। शिकायत पेश आने की सूरत में उसकी सफ़ाई की कोशिश न की जाए, बल्कि सीधे तौर पर अपनी ग़लती मान ली जाए। अपने को दुरुस्त साबित करने के बजाय यह कह दिया जाए कि — “मैं ग़लती पर था, मुझे माफ़ कर दो।” यह तरीक़ा अज़ीम अख़लाक़ी क़ीमत (moral value) का हामिल है। अपनी ग़लती न मानना हमेशा क़िब्र की बिना पर होता है, लेकिन बहस के बग़ैर अपनी ग़लती को मान लेना आदमी के अंदर वह अज़ीम सिफ़त पैदा करता है, जिसको तवाज़ो (modesty) कहा गया है।

असल यह है कि इख़्तिलाफ़ी मामले की दो सूरतें हैं। एक यह कि वह मामला ज़ाती शिकायत का मामला हो, और दूसरा यह कि वह

मामला इल्मी और दीनी मामला हो। अगर मामला ज़ाती शिकायत का हो, तो इसको ख़त्म करने की बेहतरीन सूरत यह है कि यह न देखा जाए कि हक़ीक़ी मआनों में किसकी ग़लती थी, बल्कि तवाज़ो का तरीक़ा इख़्तियार करते हुए फ़ौरन ख़ुद अपने को ग़लत मान लिया जाए। इस तरह मामला फ़ौरन ख़त्म हो जाएगा। अलबत्ता, अगर मामला इल्मी या दीनी हो — यानी इसका ताल्लुक़ उसूली नौइयत से हो — तो दलीलों के ज़रिए उसकी वज़ाहत की कोशिश करनी चाहिए। मगर यहाँ भी ज़रूरी है कि बात को सिर्फ़ दलील तक महदूद रखा जाए, उसे ज़िद तक न पहुँचने दिया जाए। दलील के ज़रिए जो बात साबित हो जाए, उसे दोनों फ़रीक़ मान लें। इस तरह न सिर्फ़ यह कि मामला ख़त्म होगा, बल्कि वह दोनों के लिए ज़ेहनी और रूहानी तरक्की का ज़रिया बन जाएगा।

तख़्लीक़ में विभिन्नता

क़ुरआन में मुख़्तलिफ़ मुक़ामात पर इंसान की तख़्लीक़ का क़िस्सा बयान हुआ है। इनमें से एक हिस्से का तर्जुमा यह है — जब तुम्हारे रब ने फ़रिश्तों से कहा कि मैं मिट्टी से एक बशर बनाने वाला हूँ। फिर जब मैं उसको दुरुस्त कर लूँ और उसमें अपनी रूह फूँक दूँ, तो तुम इसके आगे सजदे में गिर पड़ना। पस तमाम फ़रिश्तों ने सजदा किया। मगर इब्लीस ने घमंड किया और वह इनकार करने वालों में से हो गया। अल्लाह ने फ़रमाया कि ऐ इब्लीस, किस चीज़ ने तुझको रोक दिया कि तू उसको सजदा करे, जिसको मैंने अपने दोनों हाथों से बनाया? क्या तूने तकब्बुर किया, या तू बड़े दर्जे वालों में से है? उसने कहा कि मैं आदम से बेहतर हूँ। तूने मुझको आग से पैदा किया है और उसको मिट्टी से। (38:71-76)

यहाँ यह बात क़ाबिल-ए-ग़ौर है कि इब्लीस ने अपनी अफ़ज़ीलियत का दावा ख़ुद अपनी ज़बान से किया था। इसके बरअक्स, इंसान का मामला यह है कि उसकी अफ़ज़ीलियत का बयान ख़ुद ख़ालिक़ ने अपनी ज़बान से किया है। इब्लीस की बात ख़ुद सख़्ता दावा है, जबकि इंसान की अफ़ज़ीलियत का ऐलान ख़ुद ख़ालिक़-ए-काइनात ने किया है। अल्लाह और इब्लीस के दरमियान इस मुकालमे (dialogue) से कई बातें सामने आती हैं। इन्हीं में से एक यह भी है कि अल्लाह का जो मंसूबा तरक्की के बारे में है, वह इख़्तिलाफ़ से ताल्लुक़ रखता है, न कि यकसानियत से। जहाँ यकसानियत होगी, वहाँ तरक्की रुक जाएगी, और जहाँ इख़्तिलाफ़ पाया जाए, वहाँ तरक्की जारी रहेगी।

इससे यह मालूम होता है कि अल्लाह को विभिन्नता पसंद है। अगर यकसानियत अल्लाह का मतलूब होता, तो फ़रिश्ते, जिन्नात और इंसान — सबको अल्लाह यकसाँ बना देता। सब की सोच, सब का ज़ौक़, सब का अमल, बिल्कुल एक जैसा हो जाता। मगर इस दुनिया के ख़ालिक़ को विभिन्नता पसंद है, न कि यकसानियत। यह फ़ितरत का क़ानून है, और फ़ितरत के क़ानून में कोई तब्दीली मुमकिन नहीं। इसी फ़ितरी हक़ीक़त को उर्दू के मशहूर शायर ज़ौक़ ने इन अल्फ़ाज़ में बयान किया है —

“गुलाहाए रंग-ओ-रंग से है ज़ीनत-ए-चमन
ऐ ज़ौक़, इस जहाँ को है ज़ेब-इख़्तिलाफ़ से”

पुख़्तगी क्या है?

इंसानों में दो किस्म के लोग होते हैं — ना-पुख़्ता ज़हन वाले (immature) और पुख़्ता ज़हन वाले (mature)। ना-पुख़्ता ज़हन

वह है जो जज़्बाती तौर पर सोचे, जो रूमानी ख़्यालात में जिए, जो अपनी ख़्वाहिशात की पैरवी करे, न कि हक़ाइक़-ए-हयात की। इसके मुक़ाबले में पुख़्ता ज़हन वाला इंसान वह है जो अपने जज़्बात से ऊपर उठकर हक़ीक़तों को समझे, जो अपने ज़ेहनी खोल से बाहर आकर चीज़ों को देखे और हक़ीक़त-पसंदाना अंदाज़ में अपनी राय क़ायम करे। पुख़्तगी (maturity) इस सलाहियत का नाम है कि आदमी उन चीज़ों के साथ नॉर्मल तरीक़े से रह सके, जिनको वह बदल नहीं सकता —

Maturity is the ability to live with things you cannot change.

हर आदमी अपनी सोच और अपने जज़्बात के लिहाज़ से एक मुस्तक़िल हस्ती है; वह अपने आप में एक काइनात है। हर आदमी की यह ख़्वाहिश होती है कि वह जैसा चाहता है, वैसे दुनिया में रहे। वह अपने ख़्वाबों के मुताबिक़ एक पसंदीदा दुनिया की तामीर कर सके। लेकिन असल मसला यह है कि इंसान को एक ऐसी दुनिया में रहना पड़ता है, जिसको उसने ख़ुद नहीं बनाया है। वह एक ऐसे माहौल में जीने पर मजबूर है, जिसकी तश्कील उसने ख़ुद नहीं की। ऐसी हालत में किसी औरत या मर्द के लिए सिर्फ़ दो में से एक चीज़ का इख़्तियार है — या तो वह ज़ेहनी ख़ुदकुशी या जिस्मानी ख़ुदकुशी कर ले। इसके लिए दूसरा चॉइस यह है कि वह ब-ज़ाहिर ग़ैर-मतलूब दुनिया के साथ स्वीकार करने का आर्ट सीखे; वह नामुमकिन से न टकराए और सिर्फ़ मुमकिन के दायरे में रहते हुए ज़िंदगी गुज़ारे।

मौजूदा दुनिया में एडजस्टमेंट की पॉलिसी ही वाहिद क़ाबिल-ए-अमल पॉलिसी है। एडजस्टमेंट के ज़रिए यह मुमकिन होता है कि आदमी अपनी ताक़त और एनर्जी को ज़ाया होने से बचाए। वह ग़ैर-ज़रूरी टेंशन से महफ़ूज़ रहकर अपना मतलूब अमल अंजाम दे सके।

वह बीच में रुके बग़ैर अपने सफ़र को जारी रखे, यहाँ तक कि अपनी आख़िरी मंजिल पर पहुँच जाए।

इख़्तिलाफ़ के वक़्त

इख़्तिलाफ़ ज़िंदगी का एक हिस्सा है। मुख़्तलिफ़ अस्बाब से लोगों के दरमियान इख़्तिलाफ़ होता रहता है। जिस तरह आम लोगों के दरमियान इख़्तिलाफ़ होता है, उसी तरह मुख़लिस और मोमिन के दरमियान भी इख़्तिलाफ़ पेश आता है। इख़्तिलाफ़ के होने को रोका नहीं जा सकता। अलबत्ता यह हो सकता है कि इख़्तिलाफ़ के बावजूद आदमी अपने आप को सही रवैये पर क़ायम रखे।

मोमिन वह है जो इख़्तिलाफ़ को नीयत का मसला न बनाए, इख़्तिलाफ़ को उसी दायरे तक महदूद रखे जहाँ इख़्तिलाफ़ पैदा हुआ है। एक मामले में इख़्तिलाफ़ की वजह से किसी को हर मामले में ग़लत समझ लेना, एक मामले में इख़्तिलाफ़ पेश आने के बाद उसको मुनाफ़िक़, बदनीयत और ग़ैर-मुख़लिस कहने लगना — यह सरासर ग़ैर-इस्लामी तरीक़ा है।

इख़्तिलाफ़ पेश आने के वक़्त ताल्लुक़ात ख़त्म करना सही नहीं। इख़्तिलाफ़ी मसले पर संजीदा बहस जारी रखते हुए आपसी ताल्लुक़ात को बदस्तूर क़ायम रखना चाहिए। इख़्तिलाफ़ वाले शख़्स से सलाम-ओ-कलाम बंद करना या उसके साथ उठना-बैठना छोड़ देना किसी भी हाल में दुरुस्त नहीं।

मौजूदा दुनिया में हर चीज़ इम्तिहान होती है। इसी तरह, इख़्तिलाफ़ भी इम्तिहान के लिए है। आदमी को चाहिए कि वह इख़्तिलाफ़ के वक़्त सख़्त मुहतात रहे। वह मुसलसल कोशिश करे कि उससे कोई ऐसा ग़लत रद्द-ए-अमल ज़ाहिर न हो जाए, जो अल्लाह को पसंद नहीं।

इख़्तिलाफ़ के वक़्त इंसाफ़ पर क़ायम रहना बिला-शुब्हा एक मुश्किल काम है। मगर इसका सवाब भी बहुत ज़्यादा है। इस्लाम में हर दुरुस्त काम इबादत होता है। यह भी एक आला इबादत है कि इख़्तिलाफ़ और नज़ाअ की सूरत पेश आने के बावजूद आदमी अपने दिल को दुश्मनी और इंतिक़ाम की नफ़्सियात से बचाए; इख़्तिलाफ़ के बावजूद वह इंसाफ़ की रविश पर क़ायम रहे।

इख़्तिलाफ़ पेश आना बुरा नहीं; बुरा यह है कि इख़्तिलाफ़ पेश आने के बाद आदमी इम्तिहान में पूरा न उतरे। इख़्तिलाफ़ के वक़्त तक़्वा की हद में रहना अज़ीम इस्लामी अमल है, और इख़्तिलाफ़ के वक़्त तक़्वा की हद से निकल जाना इंतिहाई संगीन किस्म का ग़ैर-इस्लामी अमल है।

कामयाबी का राज़

एक इमाम साहब का वाक़िआ है। वह अपनी मस्जिद में जुमे का ख़ुतबा देते थे। ख़ुतबे से पहले वह उर्दू में तक़रीर करते थे। इस तक़रीर में वह अक्सर यह करते कि इख़्तिलाफ़ी मसलों में शदीद रवैया इख़्तियार करते। वह अपनी समझ के मुताबिक़, जिस मस्लक को दुरुस्त समझते थे, उसके मुख़ालिफ़ मस्लक पर वह शदीद तनक़ीद करते। इस पर नमाज़ियों की बड़ी तादाद इमाम साहब के ख़िलाफ़ हो गई। लोग कहने लगे कि इन्हें ख़तीब के मुक़ाम से हटा देना चाहिए।

मेरी मुलाक़ात इमाम साहब से हुई, तो गुफ़्तगू के दौरान मैंने कहा कि आप इस तरह की तनक़ीदी तक़रीरें क्यों करते हैं। उन्होंने कहा कि यह तो हक़ और ना-हक़ का मामला है। अगर मैं इस मामले में न बोलूँ, तो मैं गुनाहगार हो जाऊँगा। मैंने कहा कि आपकी सोच दुरुस्त नहीं है।

असल यह है कि इज्तिमाई मामलात में अक्सर ऐसा होता है कि हक़ और ना-हक़ को नहीं देखा जाता, बल्कि मुमकिन और नामुमकिन को देखा जाता है। रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) की ज़िंदगी के मुताला से मालूम होता है कि यही आपका तरीक़ा था।

मैंने मिसालें देकर इमाम साहब को समझाया, तो वह मेरी बात मान गए। इसके बाद उन्होंने तनक़ीद का तरीक़ा छोड़ दिया और हकीमाना अंदाज़ में अपनी बात बयान करने लगे।

यह ज़िंदगी का एक अहम उसूल है। इज्तिमाई ज़िंदगी में हमेशा हिकमत की अहमियत होती है। जो आदमी हिकमत का तरीक़ा इख़्तियार न करे, वह सिर्फ़ मसाइल को बढ़ाएगा; वह मसाइल को हल नहीं कर सकता।

ज़िंदगी में कोई हक़ीक़ी कामयाबी सिर्फ़ सब्र का तरीक़ा इख़्तियार करने वाले को हासिल होती है। सब्र का तरीक़ा छोड़ने के बाद किसी को कोई हक़ीक़ी कामयाबी मिलने वाली नहीं।

इज्तिमाई मामलात को हमेशा हक़ और ना-हक़ के नज़रिये से देखना सिर्फ़ जोश का नतीजा होता है। जिन लोगों के अंदर सब्र और तहम्मुल होता है, वे मामलात में संजीदगी के साथ ग़ौर करेंगे और फिर वही तरीक़ा इख़्तियार करेंगे, जो सूरत-ए-हाल की रौशनी में नतीजाख़ेज़ साबित होने वाला हो।

बुलंद फ़िक्री

मौजूदा दुनिया में आदमी हर वक़्त अपने क़रीबी हालात में घिरा रहता है। ऐसी सूरत में सही सोच का मालिक सिर्फ़ वह शख़्स बनेगा जो अपने अंदर बुलंद फ़िक्री (high thinking) की सिफ़त पैदा करे;

वह अपने क़रीबी हालात से ऊपर उठकर सोचे, वह ग़ैर-मुतअस्सिर ज़ेहन के तहत मामलात पर राय क़ायम करे। इस तर्ज़-ए-फ़िक्र का फ़ार्मूला सिर्फ़ एक है — अपनी सतह से ऊपर उठकर सोचना:

To think beyond the limit.

आदमी हमेशा कुछ लोगों के दरमियान ज़िंदगी गुज़ारता है। लोगों की तरफ़ से उसे बार-बार नाख़ुशगवार क़िस्म के तजुर्बात पेश आते हैं। इन नाख़ुशगवार तजुर्बात की बुनियाद पर ऐसा होता है कि उसके अंदर बतौर रद्द-ए-अमल तरह-तरह के ग़ैर-हक़ीक़ी जज़्बात पैदा हो जाते हैं — मसलन ग़ुस्सा, हसद, नफ़रत, इंतिक़ाम, एहसास-ए-बरतरी, या एहसास-ए-कमतरी, वग़ैरह। हर आदमी इसी क़िस्म के मंफ़ी एहसासात के दरमियान ज़िंदगी गुज़ारता है। ये एहसासात जो हमेशा रद्द-ए-अमल की नफ़्सियात के तहत पैदा होते हैं, वे इंसान को ग़ैर-हक़ीक़त-पसंदाना सोच में मुबतला कर देते हैं। वह फ़ितरत के मुक़र्रर रास्ते से हटकर ग़ैर-फ़ितरी रास्ते पर चलने लगता है।

इस दुनिया में कामयाबी का तरीक़ा सिर्फ़ यह है कि आदमी अपने हालात से ऊपर उठकर सोच सके; वह मुतअस्सिर ज़ेहन के तहत कोई फ़ैसला न करे। वह अपने अंदर वह चीज़ पैदा करे, जिसको ग़ैर-मुतअस्सिबाना ज़ेहन (unbiased mind) या तख़्लीक़ी फ़िक्र (creative thinking) कहा जाता है। ऐसा ही इंसान इस दुनिया में दुरुस्त अंदाज़ में सोचेगा और अपने अमल की दुरुस्त मंसूबा-बंदी करेगा और आख़िरकार कामयाबी की मंज़िल तक पहुँचेगा।

बुलंद फ़िक्री किसी इंसान के लिए सबसे बड़ी नेमत है। बुलंद फ़िक्री में जो चीज़ सबसे बड़ी रुकावट है, वह डिस्ट्रैक्शन है — यानी ज़ेहन का मुख़्तलिफ़ सिम्तों में मुंतशिर हो जाना। आदमी को चाहिए कि वह अपने आप को हर क़िस्म के ज़ेहनी कन्फ़्यूज़न से बचाए, ताकि वह अपने अंदर सेहत-ए-फ़िक्र को क़ायम रख सके। यह दरअसल सेहत-ए-फ़िक्र ही है, जो इंसान को हैवान से अलग करती है।

उम्मत में इख़्तिलाफ़ का मसला

उम्मत के अफ़राद में दीनी मसाइल के बारे में हमेशा इख़्तिलाफ़ पाया गया है। इस तरह के इख़्तिलाफ़ात के बारे में कुछ लोगों ने शिद्दत इख़्तियार की और इसको हक़ और ना-हक़ का मसला बना दिया। लेकिन उलेमा-ए-इस्लाम की अक्सरियत यह मानती है कि ग़ैर-बुनियादी बातों में इख़्तिलाफ़ फ़ितरी चीज़ है। ऐसे इख़्तिलाफ़ात को हक़ और ना-हक़ का मसला नहीं बनाना चाहिए। मिसाल के तौर पर, आठवीं सदी हिजरी के मशहूर आलिम शम्सुद्दीन इब्न मुफ़लिह (व. 1326 ई.) ने अपनी किताब "अल-फ़ुरू'" में इस मुद्दे पर गुफ़्तगू करते हुए लिखा है कि उलेमा-ए-उम्मत का इख़्तिलाफ़ एक रहमत-ए-वासिअ है —

اخْتِلَافُهُمْ رَحْمَةٌ وَاسِعَةٌ

(अल-फ़ुरू', जिल्द 11, p. 103)

इख़्तिलाफ़ के मामले का यही एक पहलू नहीं है कि इसमें शिद्दत न इख़्तियार की जाए, बल्कि रायों की कसरत को तवस्सु' पर महमूल करते हुए हर एक की इज़्ज़त की जाए। इसके अलावा, इसका एक ज़्यादा पॉज़िटिव पहलू भी है। इस मामले की तरफ़ एक रिवायत में इशारा किया गया है —

اخْتِلَافُ أُمَّتِي رَحْمَةٌ

"मेरी उम्मत का इख़्तिलाफ़ एक रहमत है।"

(अल-मक़ासिद अल-हसना, अस-सख़ावी, ह.न. 39)

इख़्तिलाफ़ सादा तौर पर सिर्फ़ इख़्तिलाफ़ नहीं है; वह राय में फ़र्क़ का नाम है। इख़्तिलाफ़ बंद ज़ेहन को खोलता है। रायों का

फ़र्क़ (difference of opinions) लोगों के अंदर डिस्कशन और डायलॉग का माहौल पैदा करता है; वह फ़िक्री तरक्की का ज़रिया है। यह इख़्तिलाफ़ का सेहतमंद पहलू है। अगर लोगों में राय का इख़्तिलाफ़ न हो, तो ऐसे गिरोह के अंदर ज़ेहनी जुमूद पैदा हो जाएगा। इसके बरअक्स, जहाँ राय में फ़र्क़ पाया जाए, वहाँ ज़ेहनी तरक्की का सिलसिला जारी रहेगा।

इस मामले में असल अहमियत की बात यह है कि लोगों के अंदर इल्मी ज़ौक़ हो, उनके अंदर तलब पाई जाए, वे किसी तअस्सुब के बग़ैर तबादला-ए-ख़्याल करना जानते हों। जिन लोगों के अंदर यह मिज़ाज होता है, उनके लिए इख़्तिलाफ़ फ़िक्री तरक्की का ज़रिया बन जाएगा; वह लोगों के अंदर तख़्लीक़ी सलाहियत पैदा करने का बाइस बनेगा, न कि ज़ेहनी जुमूद और कन्फ़्यूज़न पैदा करने का सबब।

तनक़ीद-ओ-इख़्तिलाफ़

“तनक़ीद को बंद करो, इख़्तिलाफ़-ए-राय को ख़त्म करो, ताकि उम्मत में एकता हो सके” — यह जुमला ग्रामर के एतिबार से दुरुस्त है, मगर वह हक़ीक़त के एतिबार से बिल्कुल बे-मानी है। क्योंकि तनक़ीद और इख़्तिलाफ़ इंसानी ज़िंदगी का लाज़िमी हिस्सा हैं, इसलिए वे कभी ख़त्म नहीं हो सकते। ज़्यादा सही और क़ाबिल-ए-अमल बात यह है कि तनक़ीद को गवारा करो, इख़्तिलाफ़-ए-राय को बर्दाश्त करो, ताकि उम्मत में एकता हो सके। किसी क़ौम में एकता हमेशा इसी दूसरे उसूल की बुनियाद पर होती है, और उम्मत-ए-मुस्लिमा में भी एकता इसी बुनियाद पर होगी। इसके सिवा एकता की दूसरी कोई सूरत नहीं।

सहाबा व ताबिईन के दरमियान इख़्तिलाफ़ात थे। इसी तरह मुहद्दिसीन, फ़ुक़हा, उलेमा और सूफ़िया — इन सबके दरमियान कसरत से इख़्तिलाफ़ात थे। यहाँ तक कि क़ुरआन से साबित है कि दुनिया में ब-यक-वक़्त दो पैग़म्बर हों, तो उनके दरमियान भी कभी इख़्तिलाफ़ हो जाता है (ताहा, 20:92-94)। ऐसी हालत में इख़्तिलाफ़ को ख़त्म करके एकता क़ायम करने की शर्त न सिर्फ़ ग़ैर-फ़ितरी है, बल्कि वह ग़ैर-शरई भी है।

तनक़ीद और इख़्तिलाफ़ कोई बुराई नहीं; वे फ़िक्री तरक्की का ज़रिया बनते हैं। मिसाल के तौर पर, ग़ज़्वा-ए-बद्र के मौक़े पर एक सहाबी हुबाब बिन मंज़र ने पैग़म्बर से इख़्तिलाफ़ किया। इसके नतीजे में ज़्यादा बेहतर मैदान-ए-जंग का इंतिख़ाब मुमकिन हो गया, वग़ैरह (सीरत इब्न हिशाम, जिल्द 1, p. 620)।

असल यह है कि इंसान दो क़िस्म के होते हैं — एक ख़्वाहिशों का तालिब और दूसरा हक़ का तालिब। ख़्वाहिशों का तालिब अपनी ज़ात में जीता है। उसकी सारी दिलचस्पी इसमें होती है कि उसकी अपनी शख़्सियत नुमायाँ हो, उसकी बड़ाई तस्लीम की जाए। यही वह आदमी है जो तनक़ीद और इख़्तिलाफ़ से भड़कता है, क्योंकि वह महसूस करता है कि तनक़ीद उसकी शख़्सी अज़मत को घटा रही है।

तालिब-ए-हक़ की नफ़्सियात इससे बिल्कुल जुदा होती है। वह सिर्फ़ हक़ का तालिब होता है। वह तनक़ीद को अपनी ज़ात पर हमला नहीं समझता। वह तनक़ीद को सिर्फ़ इस नज़र से देखता है कि वह हक़ है या ना-हक़। तनक़ीद अगर ग़लत है, तो वह सादा तौर पर उसे नज़रअंदाज़ कर देता है। लेकिन तनक़ीद अगर बरहक़ है, तो वह फ़ौरन उसे क़ुबूल कर लेता है, क्योंकि ऐसी तनक़ीद में उसे वही चीज़ मिलती हुई नज़र आती है, जो पहले से उसका मतलूब और मक़सूद होती है।

इख़्तिलाफ़ एक फ़ितरी मामला

इब्नुल क़य्यिम अल-जौज़िया (691 हि. में दमिश्क़ में पैदा हुए, 751 हि. में वफ़ात हुई) की एक मशहूर किताब “इ’लामुल-मुवक़्क़िक’ईन” है। इस किताब में वह लिखते हैं कि हज़रत उमर फ़ारूक़ और हज़रत अब्दुल्लाह बिन मसऊद के दरमियान सौ मसाइल में इख़्तिलाफ़ था। इसी तरह, उन्होंने दूसरे सहाबा के दरमियान रायों के इख़्तिलाफ़ का ज़िक्र किया है (इ’लामुल-मुवक़्क़िक’ईन, जिल्द 3, p. 102)।

इसका मतलब यह है कि असहाब-ए-रसूल में से किसी ने भी इख़्तिलाफ़ को बुरा नही नहीं माना; तमाम लोगों ने इसे एक फ़ितरी मामला समझा, जिससे न तो आपस में मुहब्बत ख़त्म होती है और न मुसलमानों की जमात में कोई इंतिशार पैदा होता है।

यह इस्लाम की वह सूरत-ए-हाल है जो असहाब-ए-रसूल के ज़माने में थी — यानी वह ज़माना, जिसको इस्लाम की तारीख़ में मयारी दौर कहा जाता है। उस ज़माने में हर मुसलमान आज़ादाना तौर पर इख़्तिलाफ़-ए-राय करता था। यह इख़्तिलाफ़-ए-राय अक्सर निहायत शदीद अल्फ़ाज़ में होता था। इसके बावजूद कभी ऐसा नहीं हुआ कि इख़्तिलाफ़ और तनक़ीद करने वाले को रोका जाए या उसे कोई नापसंदीदा काम समझा जाए।

इसके बरअक्स, मौजूदा ज़माने के मुसलमानों को देखिए, तो सूरत-ए-हाल बिल्कुल अलग नज़र आएगी। आज अगर किसी मुस्लिम शख़्सियत पर तनक़ीद कर दी जाए, तो मुसलमान फ़ौरन भड़क जाते हैं। वे तनक़ीद करने वालों को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं होते। दौर-ए-सहाबा और मौजूदा ज़माने में इस फ़र्क़ का सबब क्या है?

इसकी वजह यह है कि सहाबा सिर्फ़ एक अल्लाह को बड़ा बनाए हुए थे। अल्लाह के बाद तमाम इंसान उनकी नज़र में बराबर थे। इसलिए इंसानों पर तनक़ीद का उन पर कोई असर नहीं पड़ता था। इसके बरअक्स, मौजूदा ज़माने के मुसलमान अल्लाह के साथ दूसरे इंसानों को भी बड़ा बनाए हुए हैं। इन इंसानी बड़े लोगों के लिए इन्होंने मुब्तदियाना तौर पर "अकाबिर" का लफ़्ज़ वज़' कर रखा है। यही वजह है कि मौजूदा ज़माने के मुसलमान अपनी महबूब शख़्सियतों पर तनक़ीद से भड़क उठते हैं।

दीन में मयार बहर-ए-हाल असहाब-ए-रसूल हैं। मुसलमान अगर इसके सिवा कोई और मयार बनाएँ, तो वह बिला-शुब्हा बिदअत है, और बिदअत इस्लाम में मक़बूल नहीं।

इख़्तिलाफ़ का मसला

मुसलमानों के अंदर बड़े पैमाने पर मज़हबी इख़्तिलाफ़ात पाए जाते हैं। यह इख़्तिलाफ़ बढ़कर कभी तशद्दुद की सूरत इख़्तियार कर लेता है। आम तौर पर समझा जाता है कि इन इख़्तिलाफ़ात का सबब मदरसों का निसाब है। उनके ख़्याल के मुताबिक़, अगर मदरसों के निसाब में इस्लाह कर दी जाए, तो इख़्तिलाफ़ का ख़ात्मा हो जाएगा और लोगों के अंदर एकता व इत्तिफ़ाक़ की हालत क़ायम हो जाएगी।

मगर यह असल सूरत-ए-हाल का कमतर अंदाज़ा है। हक़ीक़त यह है कि इख़्तिलाफ़ का सबब फ़ितरत-ए-इंसानी में है, न कि मदरसों के निसाब में। पैदाइश के एतिबार से, हर मर्द "मिस्टर डिफरेंट" होता है और हर औरत "मिस डिफरेंट"।

यही फ़ितरी फ़र्क़ इख़्तिलाफ़ का असल सबब है। अगर तमाम मदरसों का निसाब एक कर दिया जाए, तब भी इख़्तिलाफ़ बाक़ी रहेगा,

क्योंकि ख़्वाह निसाब की सतह पर इख़्तिलाफ़ न हो, तब भी फ़ितरत की सतह पर इख़्तिलाफ़ मौजूद रहेगा — वह कभी ख़त्म होने वाला नहीं।

हज़रत अली (व. 40 हि.) और हज़रत मुआविया (व. 60 हि.) — दोनों एक ही मदरसे, मदरसा-ए-नुबुव्वत, के तालीम-याफ़्ता थे, इसके बावजूद दोनों में इख़्तिलाफ़ पैदा हुआ। अबू अल-हसन अशअरी (व. 936 ई.) मुअतज़िली फ़िर्के के आलिम अबू अली अल-जुब्बाई (व. 916 ई.) के शागिर्द थे, इसके बावजूद दोनों में इख़्तिलाफ़ पैदा हुआ। मौजूदा ज़माने में सर सय्यद अहमद ख़ान (व. 1898 ई.) और मौलाना क़ासिम नानोतवी (व. 1880 ई.) — दोनों एक ही मदरसे के तालीम-याफ़्ता थे, इसके बावजूद दोनों के दरमियान इख़्तिलाफ़ पैदा हुआ। मौलाना शब्बीर अहमद उस्मानी (व. 1949 ई.) और मौलाना हुसैन अहमद मदनी (व. 1957 ई.) — दोनों एक ही मदरसे के तालीम-याफ़्ता थे, इसके बावजूद दोनों में इख़्तिलाफ़ पैदा हुआ। मौलाना सय्यद सुलेमान नदवी (व. 1953 ई.) और मौलाना मसऊद अली नदवी (व. 1967 ई.) — दोनों एक ही मदरसे के तालीम-याफ़्ता थे, इसके बावजूद दोनों में इख़्तिलाफ़ पैदा हुआ।

असल यह है कि चाहे दो आदमी ने एक ही मदरसे और एक ही निसाब के तहत तालीम पाई हो, लेकिन तर्ज़-ए-फ़िक्र (way of thinking) की सतह पर हमेशा एक आदमी और दूसरे आदमी के दरमियान फ़र्क़ होता है। यही फ़र्क़ है जो इख़्तिलाफ़ का सबब बन जाता है। इसके बाद वह बढ़कर नफ़रत और तशद्दुद तक पहुँच जाता है। यह इख़्तिलाफ़ या फ़र्क़ चूँकि फ़ितरत-ए-इंसानी का हिस्सा है, इसलिए वह कभी ख़त्म होने वाला नहीं। ऐसी हालत में इख़्तिलाफ़ के मसले का हल यह नहीं है कि नाकाम तौर पर इसको ख़त्म करने की कोशिश की जाए, बल्कि इसका हल यह है कि लोगों को उस उसूल की तालीम दी जाए, जिसे "इख़्तिलाफ़ के बावजूद इत्तिहाद" कहा

जाता है — यानी राय की सतह पर इख़्तिलाफ़, समाजी ताल्लुक़ की सतह पर इत्तिफ़ाक़।

इंसानों के तर्ज़-ए-फ़िक्र में इख़्तिलाफ़ कोई ग़ैर-मतलूब चीज़ नहीं, बल्कि वह ऐन मतलूब है। क्योंकि इस इख़्तिलाफ़ की बुनियाद पर ऐसा होता है कि लोगों के दरमियान डिस्कशन और डायलॉग होता है, और डिस्कशन और डायलॉग ज़ेहनी तरक्की का ज़रिया है। जहाँ डिस्कशन और डायलॉग न हो, वहाँ यक़ीनी तौर पर ज़ेहनी जुमूद (intellectual stagnation) पैदा हो जाएगा, और ज़ेहनी जुमूद से ज़्यादा तबाहकुन कोई चीज़ इंसान के लिए नहीं।

अबू अम्र ज़ब्बान बिन अल-आला मक्का में 68 हिजरी में पैदा हुए। 154 हिजरी में कूफ़ा में उनकी वफ़ात हुई। इल्म और अदब में वह बहुत ऊँचा दर्जा रखते थे। उनका एक क़ौल है कि ज़रूरतमंद रहना इससे बेहतर है कि ग़लत लोगों से मदद की दरख़्वास्त की जाए।

उनका एक और क़ौल यह है कि दो आपस में मुहब्बत करने वालों के लिए कोई मजलिस तंग नहीं होती, लेकिन दो नफ़रत करने वालों के लिए सारी दुनिया तंग हो जाती है। (शज़रात अज़-ज़हब, इब्न अल-इमाद, जिल्द 2, p. 250)

(डायरी, मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान, 2 जनवरी 1995)

इख़्तिलाफ़ एक सेहतमंद ज़ाहिरा

अल्लामा इब्न तैमिय्या की किताब अल-फ़तावा अल-कुबरा (जिल्द 3, p. 238) में एक वाक़िया इन अल्फ़ाज़ में आया है:

صَنَّفَ رَجُلٌ كِتَابًا سَمَّاهُ كِتَابَ الِاخْتِلَافِ،
فَقَالَ أَحْمَدُ بْنُ حَنْبَلٍ: سَمِّهِ كِتَابَ السَّعَةِ.

यानी एक शख़्स (इसहाक़ बिन बहलुल) ने एक किताब लिखी। उसने इस किताब का नाम "किताबुल-इख़्तिलाफ़" रखा। यह किताब उसने इमाम अहमद बिन हनबल की ख़िदमत में पेश की। उन्होंने कहा कि तुम इस किताब का नाम "किताबुल-इख़्तिलाफ़" न रखो, बल्कि तुम इस किताब का नाम "किताब अल-सा'अह" (गुंजाइश वाली किताब) रखो।

इमाम अहमद बिन हनबल का मतलब यह था कि शरई मसाइल में इख़्तिलाफ़ महज़ इख़्तिलाफ़ नहीं है, बल्कि वह गुंजाइश की बुनियाद पर है — यानी हर राय में सेहत का इम्कान है।

यहाँ यह गुंजाइश सादा मफ़हूम में महज़ रवादारी के मानी में नहीं है, बल्कि उसका एक मुसबत पहलू है। वह यह कि इख़्तिलाफ़ डिस्कशन का ज़रिया बनता है और डिस्कशन से ज़ेहनी तरक्की (intellectual development) का फ़ायदा हासिल होता है।

इख़्तिलाफ़ से मुराद नज़ाअ नहीं है, बल्कि उससे मुराद सादा तौर पर राय का फ़र्क़ है। राय का यह फ़र्क़ या इख़्तिलाफ़ बेहद अहम है। इसी की बुनियाद पर डिस्कशन और डायलॉग होता है और तबादला-ए-ख़्याल वजूद में आता है। अगर रायों में फ़र्क़ न हो, तो बाहमी तबादला-ए-ख़्याल वजूद में नहीं आएगा, हालाँकि ज़ेहनी तरक्की के लिए तबादला-ए-ख़्याल बेहद ज़रूरी है। जहाँ तबादला-ए-ख़्याल नहीं, वहाँ ज़ेहनी तरक्की भी नहीं।

वाज़ेह हो कि इख़्तिलाफ़ और मुख़ालिफ़त में फ़र्क़ है। इख़्तिलाफ़ एक मुसबत अमल है। इसके बरक्स, मुख़ालिफ़त सर-ता-सर एक मंफ़ी अमल है। इख़्तिलाफ़ फ़िक्री तरक्की का सबब है और मुख़ालिफ़त फ़िक्री जुमूद का सबब।

इख़्तिलाफ़ एक बरकत

उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ (व. 101 हिजरी) को इस्लाम की तारीख़ में पाँचवें ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन का दर्जा दिया जाता है। उनका एक क़ौल इन अल्फ़ाज़ में नक़्ल किया गया है:

مَا سَرَّنِي لَوْ أَنَّ أَصْحَابَ مُحَمَّدٍ صَلَّى اللهُ عَلَيْهِ وَسَلَّمَ
لَمْ يَخْتَلِفُوا، لِأَنَّهُمْ لَوْ لَمْ يَخْتَلِفُوا لَمْ تَكُنْ رُخْصَةٌ.

यानि मेरे लिए यह चीज़ बाइस-ए-मसर्रत नहीं कि असहाब-ए-मुहम्मद में इख़्तिलाफ़ न होता, इसलिए कि अगर वे इख़्तिलाफ़ न करते, तो हमको रुख़्सत का फ़ायदा न मिलता। (अल-फ़क़ीह वल-मुतफ़क्किह, अल-ख़तीब, जिल्द 2, p. 116)

इबादती उमूर में सहाबा का इख़्तिलाफ़ बाद के ज़माने में मुख़्तलिफ़ फ़िक़्ही स्कूलों का ज़रिया बन गया। इसका सबब यह था कि बाद के उलमा ने इख़्तिलाफ़ के मामले में तरजीह का तरीक़ा इख़्तियार किया — यानी मुख़्तलिफ़ मसालिक में किसी एक तरीक़े को राजेह (superior) और किसी को मरजूह क़रार देना। इससे फ़िक़्ह में मुख़्तलिफ़ मदरसे बन गए, और बिल-आख़िर उम्मत के अंदर फ़िक़्ही तशद्दुद पैदा हो गया।

उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ का यह क़ौल एक हदीस पर मबनी है। पैग़म्बर-ए-इस्लाम (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) ने फ़रमाया:

أَصْحَابِي كَالنُّجُومِ بِأَيِّهِمُ اقْتَدَيْتُمُ اهْتَدَيْتُمْ

“मेरे असहाब सितारों की मानिंद हैं; तुम उनमें से जिसकी भी पैरवी करो, तुम हिदायत पर रहोगे।”

(जामि’ बयान अल-इल्म, इब्न अब्दिल बर्र, ह.न. 1760)

सहाबा का इख़्तिलाफ़ बुनियादी चीज़ों में नहीं है, बल्कि वह ग़ैर-बुनियादी चीज़ों में है। इस तरह के ग़ैर-बुनियादी चीज़ों में हमेशा विभिन्नता मतलूब होती है। इस तरह के जुज़ई उमूर में यकसानियत तलाश करना ग़ैर-फ़ितरी है। सही तरीक़ा यह है कि इस तरह के ग़ैर-बुनियादी इख़्तिलाफ़ को विभिन्नता पर महमूल किया जाए, इनको यकसानियत का मौज़ू न बनाया जाए। इस उसूल को इख़्तियार करने की सूरत में उम्मत के अंदर एकता बाक़ी रहेगी। इसकी ख़िलाफ़वर्ज़ी का नतीजा यह होगा कि उम्मत के अंदर इख़्तिलाफ़ और झगड़ा पैदा हो जाएगा — एक उम्मत कई फ़िर्क़ों में बट जाएगी। यह इख़्तिलाफ़ बढ़कर ग़ुलू (extremism) और तशद्दुद की सूरत इख़्तियार कर लेगा। इस्लाम के बाद के ज़माने की तारीख़ इसकी तसदीक़ करती है।

फ़िक़्ही मसाइल में इख़्तिलाफ़

फ़िक़्ही मसाइल में इख़्तिलाफ़ का मामला ज़्यादातर इबादत के तरीक़ों में इख़्तिलाफ़ से ताल्लुक़ रखता है। इस मामले में रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) ने फ़रमाया था:

صَلُّوا كَمَا رَأَيْتُمُونِي أُصَلِّي

“तुम नमाज़ इस तरह पढ़ो, जैसा कि तुम मुझको नमाज़ पढ़ते हुए देखते हो।” (सहीह अल-बुख़ारी, ह.न. 631)

इसी तरह आप ने फ़रमाया:

خُذُوا عَنِّي مَنَاسِكَكُمْ

“मनासिक में मेरी पैरवी करो; मुझसे अपने हज और उमरा के तरीक़े सीखो।” (सुनन अल-कुबरा, अल-बैहक़ी, ह.न. 9524)

इस तरह की हदीसों के मुताबिक़, रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के ज़माने में एक ही ग़ैर-इख़्तिलाफ़ी मॉडल था। लेकिन रसूलुल्लाह के बाद सहाबा अमली एतिबार से क़ाबिल-ए-पैरवी नमूना बन गए। रसूलुल्लाह की वफ़ात के बाद सहाबा मुख़्तलिफ़ ममालिक में फैल गए। लोगों ने देखा कि सहाबा के इबादती तरीक़ों में कामिल यकसानियत नहीं पाई जाती — मसलन नमाज़ में क़िराअत से पहले बिस्मिल्लाह पढ़ना या न पढ़ना, इमाम के पीछे मुक़्तदी का सूरह फ़ातिहा पढ़ना या न पढ़ना, नमाज़ में आमीन ज़ोर से बोलना या न बोलना, वग़ैरह।

सहाबा के दरमियान इस किस्म का इख़्तिलाफ़ पहले भी मौजूद था, मगर पहले इस फ़र्क़ को बहस का मामला नहीं बनाया जाता था। बाद के ज़माने में जब मुस्लिम माशिरे में नए मुसलमानों की तादाद ज़्यादा हो गई, तो इस फ़र्क़ पर सवाल किया जाने लगा। अब इस इख़्तिलाफ़ को मौज़ू बनाकर यह सवाल किया जाने लगा कि इनमें से सहीतर मॉडल कौन सा है। ये नए मुसलमान जिन मज़हबों से निकलकर आए थे, वहाँ उन्होंने देखा था कि इस किस्म के फ़र्क़ को बुनियादी अहमियत दी जाती है। इस किस्म के फ़र्क़ की बुनियाद पर दूसरे मज़हबों में अलग-अलग फ़िरक़े बने हुए हैं। अपने इस क़दीम ज़ेहन को उन्होंने इस्लाम पर भी मुंतबिक़ (apply) कर दिया। इस ज़ेहनी नज़रिये के तहत वे इस वक़्त के मुस्लिम उलमा से सवालात करने लगे। यही वह ज़ाहिरा है जिसने इस्लाम में मज़हबी फ़िरक़ाबंदी के दौर का आग़ाज़ कर दिया।

इस मामले में रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) की एक हदीस पेशगी हिदायत के तौर पर मौजूद थी। इस हदीस के अल्फ़ाज़ यह हैं:

أَصْحَابِي كَالنُّجُومِ بِأَيِّهِمُ اقْتَدَيْتُمُ اهْتَدَيْتُمْ

"मेरे असहाब सितारों की मानिंद हैं; उनमें से जिसकी भी तुम पैरवी करोगे, तुम हिदायत पर रहोगे।"

(जामि' बयान अल-इल्म, इब्न अब्दिल बर्र, ह.न. 1760)

इस हदीस के मुताबिक़, सहाबा के दरमियान इबादत के तरीक़ों में इख़्तिलाफ़ विभिन्नता की बुनियाद पर था — यानी हर तरीक़ा जो किसी सहाबी से साबित हो, वह यकसाँ तौर पर दुरुस्त है। अक़्ली तौर पर विभिन्नता का यह तरीक़ा क़ाबिल-ए-फ़हम था, क्योंकि सहाबा का इख़्तिलाफ़ या फ़र्क़ सिर्फ़ ग़ैर-बुनियादी था, वह बुनियादी न था। और यह एक हक़ीक़त है कि फ़ितरी क़ानून के मुताबिक़, छोटी चीज़ों में हमेशा फ़र्क़ पाया जाता है; इनमें यकसानियत (uniformity) का हुसूल मुमकिन नहीं।

मगर हम देखते हैं कि बाद के ज़माने में उम्मत के अंदर यह इख़्तिलाफ़ मस्लकी शिद्दत का सबब बन गया। जबकि यह इख़्तिलाफ़ ख़ुद सहाबा में मौजूद था, मगर सहाबा के दरमियान इन इख़्तिलाफ़ात की बुनियाद पर कोई मस्लकी तशद्दुद पैदा नहीं हुआ। इसका सबब वाज़ेह तौर पर यह था कि सहाबा मुख़्तलिफ़ तरीक़ों पर इबादत करते थे, लेकिन उनमें से किसी ने कभी यह नहीं कहा कि फ़ुलाँ तरीक़ा अफ़ज़ल है और फ़ुलाँ तरीक़ा ग़ैर-अफ़ज़ल। वे मुख़्तलिफ़ तरीक़ों पर इस तरह अमल करते थे जैसे कि हर तरीक़ा यकसाँ तौर पर दुरुस्त हो। मगर बाद में ऐसा हुआ कि इन्हीं इख़्तिलाफ़ात को लेकर उम्मत मुख़्तलिफ़ फ़िर्क़ों, गिरोहों में बट गई। जबकि इस किस्म की फ़िरक़ाबंदी शरीअत में सख़्त नामहमूद (अर-रूम, 30:32) है। इस मामले में असल ग़लती अब्बासी दौर के उलमा-ए-फ़िक़्ह की है, जिन्हें "इमाम-ए-मुज्तहिदीन" कहा जाता है। उन्होंने इस इख़्तिलाफ़ के मामले पर बड़ी तादाद में किताबें लिखीं। उन्होंने यह किया कि इन इख़्तिलाफ़ात को बतौर ख़ुद वह दर्जा दे दिया, जो कि शरीअत में उनका दर्जा न था, और न किसी सहाबी ने इन इख़्तिलाफ़ात के बारे में ऐसा कहा था।

इन फ़ुक़हा ने यह किया कि उन्होंने तरजीह (preference) के नाम से बतौर ख़ुद एक उसूल वाज़ेह किया। उन्होंने लंबी बहसें करके एक तरीक़े को राजेह और दूसरे तरीक़े को मरजूह (weak) साबित करने की कोशिश की। उन्होंने इख़्तिलाफ़ात को बयान किया, और फिर एक मस्लक को लेकर कहा:

هَذَا أَحْوَطُ ("यह ज़्यादा मुहतात तरीक़ा है")

هَذَا أَفْضَلُ ("यह ज़्यादा अफ़ज़ल तरीक़ा है")

उन्होंने बतौर ख़ुद एक मस्लक को आला और दूसरे मस्लक को ग़ैर-आला क़रार दिया। बिला-शुब्हा यह उलमा-ए-फ़िक़्ह की एक इज्तिहादी ग़लती थी। यही वह इज्तिहादी ग़लती है जिसने उम्मत में फ़िक़्ही तशद्दुद का आग़ाज़ कर दिया, जो फिर कभी ख़त्म न हो सका।

यह इंसान की नफ़्सियात है कि उसके लिए जब चुनाव अफ़ज़ल और ग़ैर-अफ़ज़ल के दरमियान हो, तो वह हमेशा अफ़ज़ल का इंतिख़ाब करेगा। वह अपने चुनाव को दुरुस्त साबित करने के लिए हर तरह की दलीलें देगा। बाद के ज़माने में इंसान की यही नफ़्सियात ने अपना असर दिखाया, और फ़िक़्ही मस्लक में इख़्तिलाफ़ के नतीजे में नफ़रत और तशद्दुद, यहाँ तक कि जंग तक को जायज़ कर लिया गया।

इस मामले में दौर-ए-अव्वल के उलमा को बरीउज़्ज़िम्मा क़रार देने के लिए यह कहा जाता है कि एक मस्लक को क़ाबिल-ए-तरजीह क़रार देने के बावजूद वह उस मस्लक के बारे में सख़्त न थे। मसलन, हनफ़ी और शाफ़ई फ़ुक़हा नमाज़ में बिस्मिल्लाह पढ़ने के क़ाइल थे, जबकि मालिकी फ़ुक़हा उसके क़ाइल न थे, मगर दोनों गिरोहों ने एक-दूसरे के पीछे नमाज़ अदा की। इसी तरह, इमाम शाफ़ई फ़ज्र की नमाज़ में दुआ-ए-क़ुनूत पढ़ने के क़ाइल थे, जबकि इमाम अबू हनीफ़ा इसके

क़ाइल न थे, मगर जब इमाम शाफ़ई इमाम अबू हनीफ़ा के मक़बरे के पास गए और वहाँ फ़ज्र की नमाज़ अदा की, तो उन्होंने दुआ-ए-क़ुनूत नहीं पढ़ी, वग़ैरह। मगर इस तरह का अमल सिर्फ़ इन्फ़िरादी अख़्लाक़ को साबित करता है, और शरई इख़्तिलाफ़ के हल के लिए शरई उसूल दरकार है, न कि इन्फ़िरादी अख़्लाक़।

दीनी उमूर में जब किसी एक तरीक़े को दूसरे तरीक़े के मुक़ाबले में अफ़ज़ल बताया जाए, तो इसका मतलब यह होता है कि अफ़ज़ल तरीक़े में ज़्यादा सवाब है और ग़ैर-अफ़ज़ल तरीक़े में कम सवाब है। एक फ़िक़्ही आलिम अगर अफ़ज़लियत और ग़ैर-अफ़ज़लियत की ज़बान में इस तरह का मसला बताए, और इसके बाद मुख़ालिफ़ मसला बताने वाले आलिम के पीछे एक बार नमाज़ पढ़ ले, तो इस क़िस्म के अमल से फ़िक़्ही तशद्दुद ख़त्म नहीं हो सकता। उसका यह अमल लोगों की नज़र में ज़ाती नौइयत का एक अख़लाक़ी बरताव या अच्छा समाजी बरताव क़रार पाएगा, न कि कोई शरई मसला। और यह एक हक़ीक़त है कि जब अच्छा समाजी बरताव और दीनी अफ़ज़लियत के दरमियान चॉइस हो, तो आदमी हमेशा उस तरीक़े को लेगा, जिसको अफ़ज़ल बताया गया है, और ग़ैर-अफ़ज़ल पर अमल करने वाले को कमतर समझ लेगा। इस तरह के शरई मामले में अच्छा समाजी बरताव कभी फ़ैसले की बुनियाद नहीं बन सकता। यह मिज़ाज यक़ीनी तौर पर बढ़ते-बढ़ते आख़िरकार फ़िक़्ही तशद्दुद और फ़िरक़ाबंदी की सूरत इख़्तियार कर लेगा।

इससे यह मालूम हुआ कि उम्मत के अंदर बाद के ज़माने में जो फ़िक़्ही तशद्दुद और मस्लकी फ़िरक़ाबंदी पैदा हुई, उसका सबब ख़ुद दीन की तालीमात में न था। इसका सबब तमामतर उलमा-ए-मुतक़द्दिमीन की इस इज्तिहादी ग़लती में था कि उन्होंने ग़ैर-ज़रूरी तौर पर जिस मामले में असल में गुंजाइश और फैलाव था, उसमें उन्होंने

यकसानियत पैदा करने की कोशिश की। यानी जो दीनी इख़्तिलाफ़ात क़ुदरती तौर पर अलग-अलग राय की गुंजाइश रखते थे, उन्हें एक जैसा बनाने की कोशिश की गई। यह कोशिश ग़ैर-फ़ितरी थी। इसी वजह से, यकसानियत के नाम पर की गई यह कोशिश कट्टरता में बदल गई, और आख़िर में एक उम्मत बिखरकर अलग-अलग गिरोहों में बट गई।

इस वाक़िए की ज़िम्मेदारी सारी की सारी अव्वल दौर के फ़ुक़हा पर है। इस सूरत-ए-हाल की इस्लाह सिर्फ़ उस वक़्त हो सकती है, जब उनके बारे में यह माना जाए कि उन्होंने बतौर ख़ुद इख़्तिलाफ़ी मसाइल के हल के लिए जो तरीक़ा इख़्तियार किया, वह उनकी एक इज्तिहादी ग़लती थी, और अब वह वक़्त आ गया है कि इस ग़लत रिवायत को तर्क कर दिया जाए।

इख़्तिलाफ़ के बावजूद

हज़रत उस्मान (रज़ियल्लाहु अन्हु) तीसरे ख़लीफ़ा-ए-राशिद थे। आख़िर उम्र में कुछ झूठी ख़बरों की बुनियाद पर एक हज़ार से ज़्यादा आदमी मदीना आए। उन्होंने मदीना पहुँचकर काफ़ी शोर-ग़ुल किया और आख़िरकार हज़रत उस्मान के मकान को घेर लिया। अगरचे हज़रत उस्मान के ख़िलाफ़ उनका इल्ज़ाम सरासर बे-बुनियाद था, मगर ये मुसलमान आपसे इतना बेरहम हुए कि आपका घर से निकलना और घर में पानी जाना बंद कर दिया। यहाँ तक कि 18 ज़िल-हिज्जा 35 हिजरी को हमला करके आपको शहीद कर दिया। वक़्त-ए-वफ़ात आपकी उम्र 82 साल थी।

हज़रत उस्मान के घर का घेराव तक़रीबन 40 दिन तक जारी रहा। दंगाइयों ने जब हज़रत उस्मान को घेर लिया और मकान से निकलने

पर पाबंदी लगा दी, तो आपके लिए मस्जिद जाना मुमकिन न रहा। ख़लीफ़ा की हैसियत से नमाज़ों की इमामत आप ही फ़रमाते थे। जब आपका मस्जिद जाना बंद हो गया, तो बलवाइयों का सरदार ग़ाफ़की बिन हरब अक्की इमाम बन गया। उसने मदीना की मस्जिद में नमाज़ों की इमामत शुरू कर दी।

यह मदीना के मुसलमानों के लिए बड़ी सख़्त आज़माइश की बात थी। एक तरफ़ वे अपने लिए ज़रूरी समझते थे कि मस्जिद में जाकर जमात के साथ नमाज़ अदा करें, दूसरी तरफ़ वे देख रहे थे कि एक शख़्स जो खुलेआम शरारत और ग़लत काम कर रहा है, वही मस्जिद का इमाम बना हुआ है। इस नाज़ुक हालत में एक शख़्स हज़रत उस्मान से मिला और उनसे पूछा कि ऐसी हालत में हम क्या करें। हज़रत उस्मान (रज़ियल्लाहु अन्हु) ने उन्हें यह हिदायत फ़रमाई कि तुम लोग उसके पीछे नमाज़ अदा करो। आपने फ़रमाया:

فَإِذَا أَحْسَنَ النَّاسُ فَأَحْسِنْ مَعَهُمْ، وَإِذَا أَسَاءُوا فَاجْتَنِبْ إِسَاءَتَهُمْ

यानी, जब वे लोग कोई नेक काम करें, तो उसमें उनका साथ दो; और जब वे लोग कोई बुरा काम करें, तो उनकी बुराई से दूर रहो।

(सहीह अल-बुख़ारी, ह.न. 695)

ख़लीफ़ा-ए-राशिद के इस वाक़िए में अज़ीमुश्शान नमूना है। इससे मालूम होता है कि किसी शख़्स से हमें चाहे कितनी ही ज़्यादा शिकायत हो, उसके बारे में इज़हार-ए-राय करते हुए हमें हमेशा इंसाफ़ पर क़ायम रहना चाहिए। हमें अपने इख़्तिलाफ़ को हद के अंदर रखना चाहिए, न कि यह कि इख़्तिलाफ़ पैदा होने के बाद हम हद के बाहर निकल जाएँ।

इख़्तिलाफ़ के बावजूद एतिराफ़

सहाबा उन लोगों को कहा जाता है जिन्होंने पैग़म्बर-ए-इस्लाम (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) से बराह-ए-रास्त तर्बियत पाई हो। सहाबा का हर क़ौल और हर अमल पैग़म्बर-ए-इस्लाम की तर्बियत का नतीजा था। इस एतिबार से यह कहना सही होगा कि सहाबा पैग़म्बराना अख़्लाक़ियात का तौसई नमूना (extended example) थे।

सहाबा के दो गिरोह थे — अंसार और मुहाजिरिन। मुहाजिर सहाबा में से दो के नाम यह हैं: सअद बिन अबी वक़्क़ास (व. 55 हि.) और ख़ालिद बिन वलीद (व. 21 हि.)। इन दोनों के ताल्लुक़ से एक रिवायत हदीस की किताबों में आई है। रिवायत यह है:

كَانَ بَيْنَ خَالِدِ بْنِ الْوَلِيدِ وَبَيْنَ سَعْدٍ كَلَامٌ، قَالَ: فَتَنَاوَلَ رَجُلٌ خَالِدًا عِنْدَ سَعْدٍ، قَالَ: فَقَالَ سَعْدٌ: مَهْ، فَإِنَّ مَا بَيْنَنَا لَمْ يَبْلُغْ دِينَنَا

यानी ख़ालिद बिन वलीद और सअद के दरमियान नज़ा (dispute) हो गई। रावी कहते हैं कि इसके बाद एक शख़्स ने सअद से ख़ालिद की बुराई बयान की। तो सअद ने कहा: दूर हो, हम दोनों के दरमियान जो मामला है, वह हमारा मामला है; वह हमारे दीन तक नहीं पहुँचेगा।

(मुसन्नफ़ इब्न अबी शैबा, ह.न. 25535)

इस रिवायत से मालूम होता है कि दो सहाबी — सअद बिन अबी वक़्क़ास और ख़ालिद बिन वलीद — के दरमियान कोई ज़ाती नज़ा पैदा हो गई। किसी मामले पर बात करते हुए दोनों के दरमियान तकरार हो गई। इस बात को लेकर एक शख़्स ने सअद बिन अबी वक़्क़ास से ख़ालिद बिन वलीद की बुराई बयान की। लेकिन सअद एक आला अख़्लाक़ वाले आदमी थे। उन्होंने फ़ौरन कहा कि हमारे और ख़ालिद

के दरमियान जो इख़्तिलाफ़ है, वह एक ज़ाती नौइयत का इख़्तिलाफ़ है। इस इख़्तिलाफ़ को हम ज़ाती हद तक रखेंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि इसकी बुनियाद पर हम एक-दूसरे को दीन के एतिबार से बुरा समझने लगें। इज्तिमाई ज़िंदगी में आपसी नज़ा का पैदा होना एक आम बात है, लेकिन अहल-ए-ईमान को चाहिए कि वे ज़ाती मामले को दीन से अलग रखें। ज़ाती शिकायत को वे एक-दूसरे के दीन तक न ले जाएँ। ज़ाती इख़्तिलाफ़ के बावजूद वे दीन के एतिबार से एक-दूसरे के एतिराफ़ में कमी न आने दें।

बड़ा फ़ायदा

जिस ज़माने में हज़रत अली और हज़रत मुआविया के दरमियान जंग हो रही थी, क़ैसर-ए-रूम (Constantinople) ने इरादा किया कि वह मुस्लिम दुनिया पर हमला कर दे। उसके ज़हन में आया कि इस वक़्त मुसलमान आपस में लड़ाई में मुबतला हैं। अगर इस वक़्त मैंने हमला कर दिया, तो मैं शाम और मिस्र इलाक़े पर दुबारा क़ब्ज़ा कर सकता हूँ। हज़रत मुआविया को इसकी ख़बर मिली, तो उन्होंने फ़ौरन क़ैसर-ए-रूम के नाम एक ख़त रवाना किया। उसमें लिखा हुआ था:

وَاللهِ لَئِنْ لَمْ تَنْتَهِ وَتَرْجِعْ إِلَى بِلَادِكَ يَا لَعِينُ لَأَصْطَلِحَنَّ أَنَا وَابْنُ عَمِّي عَلَيْكَ وَلَأُخْرِجَنَّكَ مِنْ جَمِيعِ بِلَادِكَ، وَلَأُضَيِّقَنَّ عَلَيْكَ الْأَرْضَ بِمَا رَحُبَتْ

यानि, अल्लाह की क़सम! अगर तुम बाज़ न आए और अपने मुल्क की तरफ़ वापस न हुए, तो मैं अपने चचा-ज़ाद भाई के साथ तुम्हारे ख़िलाफ़ सुल्ह कर लूँगा, फिर तुम्हारे पूरे मुल्क पर क़ब्ज़ा करके ज़मीन की वुसअत के बावजूद उसे तेरे ऊपर तंग कर दूँगा।

(अल-बिदायह वन-निहायाह, जिल्द 8, p. 127)

तारीख़ बताती है कि हज़रत मुआविया के इस ख़त के बाद क़ैसर-ए-रूम ने अपना हौसला खो दिया। उसने फ़ौजों की तैयारी रोक दी। उसने समझ लिया कि अब मुसलमानों से जंग छेड़ना अपनी मज़ीद बरबादी को दावत देना है। यह ज़िंदा लोगों का तरीक़ा है। उनके अंदर आपस में इख़्तिलाफ़ात पैदा होते हैं। मगर जब मामला वसी-तर मफ़ाद का आ जाए, तो वह अपने इख़्तिलाफ़ को ख़त्म करके एक हो जाते हैं। उनके इख़्तिलाफ़ की एक हद होती है — हद के आ जाने के बाद उनका इख़्तिलाफ़ बाक़ी नहीं रहता।

ज़िंदा इंसान दोस्ती के बावजूद किसी की बे-जा हिमायत नहीं करता। वह दुश्मनी के बावजूद कोई छोटी हरकत नहीं करता। वह इन्फ़िरादी झगड़े के बावजूद सामाजिक मामलों में लोगों के साथ एकजुट हो जाता है। वह शख़्सी इख़्तिलाफ़ के बावजूद इस्लामी ताल्लुक़ात में फ़र्क़ नहीं आने देता। ज़िंदा इंसान किसी से नज़ा पेश आने के बावजूद उसकी ख़ुसूसियत का एतिराफ़ करता है। वह रंजिश पैदा होने के बावजूद अमानतों को अदा करता है। ज़िंदा इंसान किसी हालत में पस्त हरकत नहीं करता; वह किसी हालत में अपनी इंसानियत को नहीं खोता। ज़िंदा इंसान दुश्मन हो सकता है, मगर वह कमीना नहीं हो सकता। ज़िंदा इंसान को शिकायतें हो सकती हैं, मगर यह मुमकिन नहीं कि जिससे उसको शिकायत हो, उसके ख़िलाफ़ वह झूठा इल्ज़ाम लगाने लगे।

तनक़ीद को सुनकर

ख़लीफ़ा हारून रशीद (149-193 हि.) ने एक बार अपने वज़ीर से कहा कि मुझको किसी बुज़ुर्ग के पास ले चलो। वह ख़लीफ़ा को अल-फ़ुज़ैल बिन अयाज़ (105-187 हि.) के पास ले गया। इस सिलसिले में लंबा क़िस्सा किताबों में नक़्ल हुआ है।

ख़लीफ़ा के साथ उसके कई दरबारी थे। उन्होंने फ़ुज़ैल से मुसाफ़ा किया। ख़लीफ़ा ने भी मुसाफ़ा किया। ख़लीफ़ा ने अपना हाथ जब फ़ुज़ैल के हाथ में रखा, तो उन्होंने कहा कि कितना ज़्यादा नरम है यह हाथ — अगर कल के दिन वह अल्लाह के अज़ाब से भी बच जाए। इसके बाद ख़लीफ़ा ने फ़ुज़ैल से कहा कि कुछ नसीहत कीजिए। उन्होंने तल्ख़ नसीहत के अंदाज़ में कुछ कलिमात कहे। ख़लीफ़ा ने कहा कि और कुछ फ़रमाइए। फ़ुज़ैल ने मज़ीद कुछ कहा। इस तरह वह सख़्त तनक़ीदी-अंदाज़ में देर तक ख़लीफ़ा को डराने वाली बातें करते रहे। ख़लीफ़ा उनकी नसीहतों को सुनकर रो पड़ा। आख़िर में उसने अपने वज़ीर से कहा कि जब तुम मुझको किसी आदमी के पास ले जाओ, तो इसी तरह के आदमी के पास ले चलो। यह मुसलमानों के सरदार हैं।

(हिल्यतुल-औलिया, जिल्द 8, p. 106-107)

आदमी के अंदर अगर सही मिज़ाज हो, तो वह नसीहत को सुनकर उससे सबक़ लेगा, चाहे यह नसीहत कितने ही सख़्त तनक़ीदी अल्फ़ाज़ में की गई हो। ऐसा आदमी नसीहत को उसके मानी के एतिबार से देखेगा, न कि उसके लफ़्ज़ी एतिबार से; वह इसको उसूल की हैसियत से लेगा, न कि ज़ाती हैसियत से।

सही मिज़ाज अगर बादशाह के अंदर हो, तो वह भी तनक़ीद को सुनकर उसे बर्दाश्त करेगा। और एक मामूली आदमी भी अगर सही मिज़ाज न रखता हो, तो वह तनक़ीद को सुनकर बिगड़ जाएगा। तनक़ीद किसी आदमी को पहचानने की सबसे ज़्यादा यक़ीनी कसौटी है। तनक़ीद को सुनकर जो आदमी अपने ज़ेहनी तवाज़ुन को न खोए, वही आला इंसान है। और जो शख़्स तनक़ीद को सुनकर बिगड़ जाए, उसके मुताल्लिक़ यह कहना मुश्किल है कि वह अपने अंदर आला इंसान वाली ख़ुसूसियत रखता है — तनक़ीद किसी आदमी की इंसानियत और उसके तक़्वे की पहचान कराती है।

ज़ेहनी तरक्की का ज़रिया

उलमा-ए-सलफ़ के हालात पढ़ने से मालूम होता है कि उनके दरमियान दीनी मसाइल में कसरत से इख़्तिलाफ़ पाया जाता था। इसके बावजूद हर आलिम दूसरे आलिम की इज़्ज़त करता था। इस सिलसिले में यहाँ दो वाक़ियात नक़्ल किए जाते हैं:

इमाम अहमद बिन हनबल और अली बिन अल-मदनी के दरमियान एक मसले पर बहस हुई, और बहस ऐसी हुई कि दोनों तरफ़ से आवाज़ें बुलंद होने लगीं। मुझे अंदेशा होने लगा कि आपस में बद-मज़गी पैदा हो जाएगी, लेकिन अली बिन अल-मदनी वापस जाने लगे, तो इमाम अहमद बिन हनबल ने उनके साथ इस दर्जे का इज़्ज़त का मामला किया कि आगे बढ़कर उनकी रिकाब थाम ली। (जामि' बयान अल-इल्म, इब्न अब्दिल बर्र, जिल्द 2, p. 107)

इसी तरह यूनुस सिद्दीकी इमाम शाफ़ई के एक मुमताज़ शागिर्द हैं। एक मर्तबा किसी मसले में उस्ताद से ख़ूब बहस हुई। फिर जब अगली मुलाक़ात हुई, तो इमाम शाफ़ई ने उनका हाथ पकड़ा और फ़रमाया कि क्या यह बात बेहतर नहीं होगी कि हम भाई-भाई बनकर रहें, चाहे किसी मसले में भी हमारे दरमियान इत्तिफ़ाक़ पैदा न हो सके?

أَلَا يَسْتَقِيمُ أَنْ نَكُونَ إِخْوَاناً وَإِنْ لَمْ نَتَّفِقْ فِي مَسْأَلَةٍ

(सियरु आ'लामिन्नुबला, जिल्द 10, p. 16)

इस तरह के वाक़ियात का मतलब सिर्फ़ आपसी इज़्ज़त (mutual respect) नहीं है, बल्कि इन वाक़ियात में एक और ज़्यादा बड़ा पहलू है, और वह है इख़्तिलाफ़-ए-राय (difference of opinion) का एहतिराम। दूसरे अल्फ़ाज़ में यह कि इख़्तिलाफ़-ए-राय को इल्मी पहलू से देखना, न कि शख़्सी पहलू से।

इख़्तिलाफ़-ए-राय का एहतिराम कोई सादा बात नहीं; इसका बराह-ए-रास्त ताल्लुक़ ज़ेहनी तरक्की से है। जिस माहौल में इख़्तिलाफ़-ए-राय को बुरा न समझा जाए, वहाँ लाज़िमन डिस्कशन का माहौल होगा। लोग इल्मी दलाइल के ज़रिए अपना-अपना नुक्ता-ए-नज़र बयान करेंगे। जहाँ इख़्तिलाफ़-ए-राय को बुरा समझने के बजाय इख़्तिलाफ़-ए-राय का एहतिराम पाया जाता हो, वहाँ ज़ेहनी जुमूद न होगा, बल्कि ऐसे माहौल में ज़ेहनी तरक्की का अमल जारी रहेगा — और ज़ेहनी तरक्की बिला-शुब्हा किसी इंसान की सबसे बड़ी ज़रूरत है।

इख़्तिलाफ़, नफ़रत

मौलाना महमूद हसन देवबंदी (1851-1920) तहरीक-ए-ख़िलाफ़त के पुरजोश हामियों में से थे। उनके शागिर्द मौलाना अशरफ अली थानवी (1862-1943) तहरीक-ए-ख़िलाफ़त के ख़िलाफ़ थे। वह इस तहरीक पर खुल्लम-खुल्ला तनक़ीद करते थे। मगर उस्ताद ने अपने शागिर्द की इस गुस्ताख़ी को कभी बुरा नहीं माना। दोनों के दरमियान आख़िरी वक़्त तक मुख़लिसाना ताल्लुक़ बाक़ी रहा।

मौलाना अशरफ अली थानवी एक गुफ़्तगू के दौरान अपने उस्ताद और शेख़ के बारे में लिखते हैं:

हज़रत के क़ल्ब पर मेरे इख़्तिलाफ़ से ज़र्रा बराबर भी गिराँ न थी। एक मर्तबा तहरीक-ए-ख़िलाफ़त के ज़माने में हज़रत की बैठक में कुछ लोग बैठे हुए मेरे मुताल्लिक़ बुरे-भले अल्फ़ाज़ कह रहे थे। कुछ अल्फ़ाज़ हज़रत के कानों में पड़ गए। बाहर तशरीफ़ ले आए। बहुत ख़फ़ा हुए और यह फ़रमाया कि ख़बरदार, जो आइंदा ऐसे अल्फ़ाज़ कभी इस्तेमाल किए। और यह फ़रमाया कि मेरे पास क्या वही आती है कि जो कुछ मैं कर रहा हूँ, वह सब ठीक है। मेरी भी एक राय है, उसकी

भी एक राय है। एक मर्तबा हज़रत ने यह फ़रमाया कि हमें तो उस पर फ़ख़्र है कि जो शख़्स तमाम हिंदुस्तान से भी मुतअस्सिर न हुआ और किसी की भी परवाह न की, वह भी हमारी ही जमात से है। (मल्फ़ूज़ात-ए-हकीमुल-उम्मत, मौलाना अशरफ अली थानवी, इदारा तालीफ़ात अशरफिया, मुल्तान, p. 114)

यह एक मिसाल है जिससे अंदाज़ा होता है कि इख़्तिलाफ़ के मामले में उलमा-ए-उम्मत का तरीक़ा क्या होना चाहिए। इस तरह के इख़्तिलाफ़ात में वही रूह ग़ालिब होनी चाहिए, जो इमाम शाफ़ई की तरफ़ मंसूब इस क़ौल में बयान की गई है:

“मेरी राय सही है, मगर उसमें ग़लती के इम्कानात हैं; दूसरे की राय ग़लत है, मगर उसमें सही होने के इम्कानात हैं।”

यह इख़्तिलाफ़ात आम तौर पर इज्तिहादी उमूर में होते हैं, और इज्तिहादी उमूर में हमेशा एक से ज़्यादा राय की गुंजाइश होती है। इसलिए सहीतरीन मस्लक यह है कि आदमी इख़्तिलाफ़ के बावजूद अपने आपको सामने वाले की नफ़रत से बचाए। वह अपने नुक्ता-ए-नज़र को शिद्दत के साथ पेश करे, उसके बावजूद उसकी नफ़्सियात यह हो कि मामला 50-50 फ़ीसद का है, न कि सद-फ़ी-सद (एक हंड्रेड परसेंट) का।

Here is the fully proofread version of your text with correct spellings, nuktas, punctuation, and यह/ये corrections:

इख़्तिलाफ़ के साथ एतिराफ़

मौलाना हुसैन अहमद मदनी (1879-1957) सियासी मसलक के एतिबार से इंडियन नैशनल कांग्रेस के हामी थे। मौलाना अशरफ

अली थानवी (1863-1943) का मसलक इस मामले में मुख़्तलिफ़ था। वह कांग्रेस की हिमायत को मुसलमानों के लिए दुरुस्त नहीं समझते थे। इस इख़्तिलाफ़ के बावजूद दोनों बुज़ुर्गों में निहायत अच्छे ताल्लुक़ात थे। दोनों एक-दूसरे की क़द्र करते थे।

अगर किसी शख़्स की सोच यह हो कि सिर्फ़ दो ही रास्ते होते हैं — या पूरी तरह इत्तिफ़ाक़ या पूरी तरह इख़्तिलाफ़ — तो वह इन दोनों बुज़ुर्गों के तरीक़े को "वक़्त के हिसाब से चलना" समझेगा।

वह कहेगा कि दोनों एक-दूसरे से इख़्तिलाफ़ रखते थे, लेकिन अपने फ़ायदे के लिए एक-दूसरे के बारे में अच्छी बातें करते थे।

मगर जो शख़्स इस्लाम की रूह और मोमिनाना मिज़ाज को जानता हो, वह इसको वुसअत-नज़री क़रार देगा। वह कहेगा कि दोनों साहिबान मुख़लिस थे। दोनों का दीन एक था। अलबत्ता कुछ मसाइल में दोनों की राय एक-दूसरे से अलग हो गई थी। और इस किस्म का इख़्तिलाफ़ इंसानों के दरमियान हमेशा मौजूद रहता है। हर दौर के मोमिनीन-ए-सालेहीन में इस किस्म का इख़्तिलाफ़ पाया जाता था और हमेशा पाया जाता रहेगा। यह इख़्तिलाफ़ बज़ात-ए-ख़ुद कोई ग़ैर-महमूद चीज़ नहीं। वह ग़ैर-महमूद सिर्फ़ उस वक़्त बनता है, जब इख़्तिलाफ़ सिर्फ़ इख़्तिलाफ़ न रहे, बल्कि वह नफ़रत और दुश्मनी तक जा पहुँचे।

असहाब-ए-रसूल के दरमियान बहुत से उमूर में इख़्तिलाफ़ था। इसी तरह फ़ुक़हा और उलमा में और मुफ़स्सिरीन-ए-क़ुरआन और शारेहीन-ए-हदीस में हजारों इख़्तिलाफ़ पाए जाते हैं। इन लोगों ने अपने इख़्तिलाफ़ात का एलानिया इज़हार किया। इसके बावजूद ऐसा हुआ कि उन्होंने एक-दूसरे का एतिराफ़ किया। वह हमेशा एक-दूसरे की क़द्र-दानी करते रहे। इस दो-तरफ़ा अमल का सबब ज़माना-शिनासी नहीं थी, बल्कि दीन-शिनासी थी। उनका यह मस्लक मफ़ाद-ए-दुनिया की बुनियाद पर न था, बल्कि ख़ौफ़-ए-आख़िरत की बुनियाद पर था।

इख़्तिलाफ़ के साथ एतिराफ़ एक आदमी के सच्चा मोमिन होने की आलामत है। लेकिन बे-ख़बर लोगों के लिए वह मफ़ाद-परस्ती और ज़माना-शिनासी के हम-मानी बन जाता है।

इख़्तिलाफ़ को भुला दिया

गोर्बाचोव (1931-2022) सोवियत यूनियन के आख़िरी लीडर थे। वह 1985 में सोवियत रूस में प्रेसिडेंट आए। उन्होंने पार्टी में अपने मुवाफ़िक़ अफ़राद लाने के लिए उसके ढाँचे को बदलना शुरू किया। इस वक़्त बोरिस येल्तसिन (1931-2007) पोलिट ब्यूरो के मेंबर थे। गोर्बाचोव उनकी ग़ैर-मामूली शख़्सियत से ख़ौफ़ज़दा थे। इसलिए वह येल्तसिन को पोलिट ब्यूरो में शामिल करने के मुख़ालिफ़ थे। यह इख़्तिलाफ़ बढ़ता रहा। यहाँ तक कि 1987 में येल्तसिन ने पार्टी के तमाम आला ओहदों से इस्तीफ़ा दे दिया। 1989 में येल्तसिन जम्हूरियत रूस की सदारत के लिए खड़े हुए, तो गोर्बाचोव ने उनकी मुख़ालिफ़त की और उनके मुक़ाबले में दूसरा उम्मीदवार खड़ा किया। यहाँ इस मुख़ालिफ़त के बावजूद येल्तसिन कामयाब हुए और जम्हूरियत रूस के सदर बन गए (हिन्दुस्तान टाइम्स, 26 अगस्त 1991)।

रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के इंतिहापसंद गिरोह ने 19 अगस्त 1991 को गोर्बाचोव के ख़िलाफ़ बग़ावत की और उनको हटाकर क्रेमलिन की हुकूमत पर क़ाबिज़ हो गए। इसका हौसला भी उनको इसी इख़्तिलाफ़ से मिला। वह समझते थे कि येल्तसिन और गोर्बाचोव के इख़्तिलाफ़ से फ़ायदा उठाकर वह गोर्बाचोव का ख़ातमा कर सकते हैं। मगर अमलन इसके बरअक्स सूरत-ए-हाल पेश आई। बग़ावत के बाद येल्तसिन ने अपने तमाम इख़्तिलाफ़ात को भुला दिया। उन्होंने अपनी पूरी ताक़त

और अपनी सारी ज़हानत गोर्बाचोव की हिमायत पर लगा दी। अपनी ज़ात को ख़तरे में डालकर उन्होंने बाग़ी हुक्मरानों के ख़िलाफ़ अवाम को मुनज़्ज़म किया। बग़ावत के अगले ही दिन इसके ख़िलाफ़ मास्को में इतना बड़ा अवामी मुज़ाहिरा कराया कि बाग़ियों को हुकूमत छोड़ देनी पड़ी। 21 अगस्त 1991 को गोर्बाचोव क्रीमिया से वापस आए और दोबारा हुकूमत का ओहदा संभाल लिया। आम तौर पर तस्लीम किया गया है कि गोर्बाचोव का ज़िंदा बच जाना और दोबारा सदर के ओहदे पर वापस आ जाना येल्तसिन का कारनामा है।

बुलंद फ़ितरत — आदमी की सबसे बड़ी पहचान यही है। मुश्किल वक़्त में वह शिकायतों और इख़्तिलाफ़ को भुलाकर इंसान का साथ देता है। जबकि पस्त फ़ितरत वाले आदमी का मामला इसके बिल्कुल बरअक्स होता है।

इख़्तिलाफ़ एक आज़माइश

इख़्तिलाफ़ एक परचा-ए-इम्तिहान है। किसी से आपका इख़्तिलाफ़ पैदा हो जाए, तो समझ लीजिए कि अल्लाह ने आपको एक नाज़ुक आज़माइश में डाल दिया, ताकि यह जाने कि आप सच्चे मोमिन हैं या सच्चे मोमिन नहीं हैं। इख़्तिलाफ़ को इख़्तिलाफ़ के दायरे में रखना सच्चे अहल-ए-ईमान का तरीक़ा है। जो लोग इख़्तिलाफ़ को फ़साद के दर्जे तक पहुँचा दें, वह बिला-शुब्हा ईमान और इस्लाम के दायरे से निकल गए।

आदमी जब इख़्तिलाफ़ को इख़्तिलाफ़ के दायरे में रखे, तो इसका इम्कान होता है कि तबादला-ए-ख़्याल के दौरान दोनों में से किसी के ऊपर सच्चाई खुल जाए और इस तरह जो भटका हुआ मुसाफ़िर की

मानिंद था, वह दुबारा सही रास्ते पर आ जाए। मगर जब एक आदमी इख़्तिलाफ़ को फ़साद तक पहुँचा दे, तो इसके बाद गुमराही के गढ़े में गिरने के सिवा कोई अंजाम इसके लिए बाक़ी नहीं रहता। ऐसे आदमी का दिमाग़ मंफ़ी सोच का कारख़ाना बन जाता है। वह दलील और इल्ज़ाम तराशी के फ़र्क़ को समझने की अहलियत खो देता है। वह ब-इंसाफ़ इख़्तिलाफ़ की हद से गुज़रकर ज़ालिमाना इख़्तिलाफ़ के दायरे में दाख़िल हो जाता है। वह ख़ुदा की पकड़ के एहसास से ग़ाफ़िल हो जाता है। वह सिर्फ़ अपनी अना को रहनुमा बना लेता है। अब उसका मक़सद हक़ को क़ायम करना नहीं होता, बल्कि सिर्फ़ अपनी ज़ात को क़ायम करना उसका पहला और आख़िरी मक़सद बन जाता है। वह ख़ुदा की रहमत से दूर होकर पूरी तरह शैतान की गिरफ़्त में आ जाता है।

इख़्तिलाफ़ पैदा होना बिल्कुल फ़ितरी है। मगर इख़्तिलाफ़ को फ़साद बनाना सरासर ज़ालिमाना फ़ेल है। जो लोग इख़्तिलाफ़ को फ़साद बनाएँ, उनके लिए सख़्त ख़तरा है कि वह ख़ुदा की शदीद पकड़ में आ जाएँ। ऐन मुमकिन है कि आख़िरत में उनसे कह दिया जाए कि आज तुमने दुनिया की ज़िंदगी में शैतान को अपना रहनुमा बनाया; अब आख़िरत की ख़ुदाई नेमतों में तुम्हारा कोई हिस्सा नहीं।

इख़्तिलाफ़ के वक़्त अदल पर क़ायम रहना आदमी के लिए जन्नत के दरवाज़े खोलता है, और इख़्तिलाफ़ के वक़्त अदल और इंसाफ़ से हट जाना आदमी को जहन्नुम के दरवाज़े पर पहुँचा देता है।

(इस शुमारे के मज़ामीन मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान की नई किताब हिकमत-ए-इख़्तिलाफ़ से लिए गए हैं)

No. 50760/90
शांति और आध्यात्मिकता पर और किताबें।
शांति की ओर
मौलाना वहीदुद्दीन ख़ान
क़ुरआन की महिमा
इस्लाम
आधुनिक युग का निर्माता
हदीस-ए-रसूल
एक अध्ययन
हज का पैग़ाम
इस्लाम की दावत
आध्यात्मिक सेट
जिहाद क्या है?
मौत की याद
सच्चा रास्ता
ईश्वर और इंसान
₹30/-
₹40/-
₹20/-
₹40/-
एकेश्वरवाद की सच्चाई
तज़्किया
इंसान अपने आपको पहचान
सफल जीवन के सैद्धांतिक नियम
₹30/-
₹45/-
₹20/-
₹40/-